Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

साहित्य और अश्लीलता का प्रश्न

शशांक शुक्ल

CC-0. Gurukul Kangri Digital Preservation Foundation

साहित्य और अश्लीलता का प्रश्न

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

साहित्य के बनने के वैचारिक पार्श्व को समेटे डायरी विधा आज की मुख्य कथेतर विधा है। डॉ. शशांक शुक्ल की वैचारिक डायरियां एक साहित्यिक की डायरी का विस्तार हैं। इन डायरियों में एक चिंतक मन की अंतर्मुखी रचनात्मक यात्रा का रोमांचकारी प्रकाश है। ये डायरियां साहित्य के गूढ़ प्रश्नों को हमारे सामने सुलझाकर रख देती हैं। साहित्य के जिन प्रश्नों को वैचारिकता के अतिवाद से अनसुलझा समझ कर छोड़ दिया गया है, उन्हें शशांक शुक्ल इत्मीनान से सुलझा कर हमारे सामने रख देते हैं। इस प्रक्रिया को वे बिना किसी अतिवाद या कट्टरता के करते हैं...और यही इस पुस्तक की खूबी भी है। साहित्य और अश्लीलता का प्रश्न शशांक शुक्ल की वैचारिक डायरियों का संग्रह है। आप चाहें तो इसे आलोचना की तरह भी पढ़ सकते हैं। एक तरह से डायरी में आलोचना। यह मुक्तिबोध की परंपरा है। इस परंपरा में वैयक्तिक अनुभूति का रूपांतरण सामाजिक-वैचारिक मनोभूमि में होता है। आलोच्य पुस्तक में साहित्य के उन बिंदुओं की खोज की गई है, जिन पर बहुधा लोगों की दृष्टि आज तक नहीं गयी है। इस दृष्टि से साहित्य के वैचारिक विस्तार की दृष्टि से इस पुस्तक को पढ़ना चाहिए। साहित्य और अश्लीलता का प्रश्न पुस्तक कला और जीवन के बुनियादी प्रश्नों को उठाती है। आजकल बीज प्रश्नों पर बात करने का चलन न के बराबर रह गया है। ऐसे समय में यह पुस्तक एक क्लासिक दृष्टि के साथ साहित्य के बुनियादी प्रश्नों को उठाती है। डायरी का अर्थ केवल वैयक्तिक रोजनामचा होता है, यह पुस्तक इस अवधारणा को तोड़ती है। शशांक शुक्ल की वैचारिक दृष्टि निर्भ्रांत है। इस दृष्टि में न झुकाव है और न भय। चिंतन की वस्तुनिष्ठता ही इस पुस्तक की विशेषता है। पुस्तक में पूर्व साहित्यिक मान्यताओं से असहमति के पर्याप्त स्थल हैं, किन्तु उन असहमतियों में विध्वंश का प्रयत्न नहीं है, अपितु एक बड़ी लकीर खींचने का प्रयत्न ही है। लेखक की दृष्टि तुलनात्मक मानों को लेकर चली है, जिसमें तटस्थ दृष्टि से दो विपरीत विचार, कथ्य के बीच अपनी भूमि की खोज की गई है। यह पुस्तक साहित्य की नवीन सैद्धांतिकी को गढ़ती है— बिना शोर-शराबे के। आलोचना का यह नवीन रूप है।

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

श्रेष्ठ भारतीय साहित्य

अग्निशेखर और क्षमा कौल
द्वारा यह
पुस्तक सप्रेम भेंट

भारतीय ज्ञानपीठ

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

साहित्य और अश्लीलता का प्रश्न

(डायरी)

अग्निशेखर और क्षमा कौल
द्वारा यह
पुस्तक सप्रेम भेंट

G.M. College of Education
Raipur, Bantalab
Jammu.
Acc No.............
Dated.......7-11-2023

CC-OAgamnigam Digital Preservation
Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

प्रकाशक / लेखक की अनुमति के बिना इस पुस्तक को या इसके किसी अंश को संक्षिप्त, परिवर्धित कर प्रकाशित करना या फ़िल्म आदि बनाना कानूनी अपराध है।

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

साहित्य और अश्लीलता का प्रश्न

शशांक शुक्ल

J.M. College of Education
Raipur, Bantalab
Jammu.
Acc No.....5172
Dated.. 28/12/23

भारतीय ज्ञानपीठ

CC-OAgamnigam Digital Preservation
Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक 1516

ISBN 978-93-90659-28-9

साहित्य और अश्लीलता का प्रश्न

(डायरी)

शशांक शुक्ल

प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110 003

मुद्रक : भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली-110 003

आवरण-सज्जा : महेश्वर

© श्री शशांक शुक्ल

SAHITYA AUR ASHLILATA KA PRASHN

(Diary)

By Shashank Shukla

Published by

Bharatiya Jnanpith

18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110 003

Ph. : 011-24626467; 23241619 (Daryaganj)

Mob. : 9350536020; e-mail : bjnanpith@gmail.com

sales@jnanpith.net; website : www.jnanpith.net

First Edition : 2021

Price : Rs. 370

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पत्नी ऋतु को सप्रेम...

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पूर्वकथन

इस पुस्तक में पिछले कुछ वर्षों में लिखी गयी डायरियाँ संग्रहीत हैं। आलोच्च डायरियाँ साहित्य और कला को सैद्धान्तिक रूप में पकड़ती हैं। सैद्धान्तिक आलोचना को आज उतनी स्वीकृति नहीं मिल रही, जबकि साहित्य की गहनता और मूल्य का प्रामाणिक रूप सैद्धान्तिक आलेख ही बनते हैं। उत्तर-आधुनिकता में कथेतर विधाएँ साहित्य की मुख्यधारा के रूप में देखी जाने लगी हैं। कारण यह कि आज के साहित्य पर घटनाओं का, सूचनाओं का दबाव बहुत ज़्यादा है। यथार्थ की छाया में कल्पना को देखने की वृत्ति पहले से बढ़ी है, इसलिए साहित्य की भंगिमा भी बदल गयी है। यह पुस्तक इन्हीं भंगिमाओं के सापेक्ष साहित्य की सैद्धांतिकी पकड़ने की अकुलाहट के बीच निर्मित हुई है। नए जीवन-संवेदना के समतुल्य साहित्य के मूल्य भी बदलते चलते हैं। इन्हीं मूल्यों को सूत्रीकरण करने का कार्य सैद्धांतिक समीक्षा करती है। आलोच्य पुस्तक इसी कमी की पूर्ति का एक लघु प्रयास है।

यह पुस्तक डायरी शिल्प में रचित है। एक साहित्यिक की डायरी भावों-विचारों का पार्श्व रचती है। इस दृष्टि से डायरी विचारों का हाशिया रचते हुए ख़ुद एक मुखांश का वितान रचती है। कविता-कला के प्रश्न जीवन के प्रकाश के ही लालित्य रूप हैं। इस दृष्टि से डायरी के प्रश्न जीवन और कला के महत्वपूर्ण प्रश्न बन जाते हैं। डायरी का प्रथम पाठक लेखक स्वयं भले हो, किन्तु डायरी लेखन की प्रक्रिया के बीच लेखक के साथ उसका पाठक भी साथ चलता रहता है। यही कारण है कि कुछ डायरियों में संवाद-शैली के परिप्रेक्ष्य एक पाठक और उसके प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं। स्वाभाविक है कि पुस्तक पर मुक्तिबोध की 'एक साहित्यिक की डायरी' का प्रभाव देखा जाए। मेरी वैचारिकी के गठन में जनवादी आलोचक रामनारायण शुक्ल का महत्वपूर्ण योग रहा है। आलोच्य पुस्तक भी इससे अछूती नहीं है।

इस पुस्तक के बनने में आस-पास के परिवेश, साहित्य के बदलाव की भूमिका तो रही ही है; साथ ही बौद्धिक मित्रों की भी भूमिका कम महत्वपूर्ण नहीं है। मित्रों के साथ बौद्धिक चर्चाएँ कुछ डायरियों के आधार बिंदु बने हैं। डॉ. शिवशंकर मिश्र, डॉ. रजनी रंजन सिंह, डॉ. प्रवीण कुमार तिवारी, डॉ. प्रियदर्शिनी,

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
डॉ. देवेश कुमार मिश्र जैसे मित्रों से हुई साहित्यिक चर्चाएँ लाभप्रद रही हैं। साथ ही मेरे पाठकों की भूमिका भी काफ़ी उपयोगी रही है, जिन्होंने मेरे लिखे को अपना स्नेह दिया है।

जीवन के तमाम झंझावातों, संकटों के बीच सहधर्मिणी ऋतु शुक्ला और पुत्री अलंकृता शुक्ला ने जीवन को रचनात्मक बनाये रखने में मदद की है। साथ ही परिवार के सदस्यों का साथ भी बल देता रहा है। यह पुस्तक मूर्त रूप में न आ पाती, यदि भारतीय ज्ञानपीठ का सहयोग न मिलता।

—शशांक शुक्ल
आगस्त, 2011

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अनुक्रम

साहित्य और अश्लीलता का प्रश्न : 11
प्रेम और कथानक का प्रश्न : 19
भविष्य की कविता : 25
ददीर्घ और लघु रचनाएँ : सम्वेदों का अन्तर्निहित संयोजन : 30
अपराध कथाओं का आख्यान : 36
तुलनात्मक आलोचना के औज़ार... : 43
कला और जीवन : 51
साहित्य और सिनेमा : प्रस्तुति का प्रश्न : 54
बेस्ट सेलर कृतियाँ : काल का तात्कालिक उत्प्रेरण : 57
प्रिय रचना बनाम प्रिय रचनाकार : 60
क्रांतिकारी कविताएँ : 64
रचनाकार और आलोचक : 67
कलाकार और आलोचक : 70
कथेतर विधाओं का सौंदर्यशास्त्र-प्रस्तावना : 72
रचनाकार और आलोचक की आलोचना दृष्टि : 75
प्रेम और प्रेरणा का प्रश्न... : 78
सौन्दर्य और विचार : 83
मूल और भाष्य : 86
कविता में लय या लय में कविता... : 88
कथ्य और प्रभावी प्रस्तुति का प्रश्न : 90
कविता में दृश्य निर्माण : 92
पूर्ण-अपूर्ण रचनाएँ : 96
बड़े लेखकों की 'असफल' (?) कृतियाँ : 99
मुख्य रचना और पार्श्व रचना : 102
साहित्य और यश-प्राप्ति : कुछ प्रश्न : 104
लेखक-कलाकार का जीवन और साहित्य : 111
कला में चरित्र : 116
सौंदर्य आस्वाद की प्रक्रिया-1 : 119

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सौंदर्य आस्वाद की प्रक्रिया-2 : 121
कला और सौंदर्य : 123
गद्य और पद्य के बीच संचरणशील लेखकीय व्यक्तित्व : 126
कला और संभावना : 129
शेक्सपियर और पात्रानुकूल भाषा का प्रश्न : 131
लेखन और व्यक्तित्व का अंतर्संबंध : 137
कलाकार का आस्वाद और पर्यवेक्षण-अभिव्यक्ति का प्रश्न : 140
'ट्रोजन की औरतें' एवं 'स्त्री विलाप पर्व' : 143
कला और भंगिमा : 149
विषय, रूप और कलाकार : 151
कला और व्यक्तित्व : 153
शहंशाह इडिपस (सोफोक्लीज़) एक ग्रीक त्रासदी : 160
कहानी और शिक्षा : 166
ट्रैजिक पात्र और स्थितियाँ : 174
कविता और चरित्र : 179

CC-OAgamnigam Digital Preservation
Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

साहित्य और अश्लीलता का प्रश्न

11.02.2015

(1)

साहित्य में अश्लीलता का प्रश्न मनुष्य की 'आदिमवृत्ति' और 'सभ्यता' के द्वन्द्व से जुड़ा हुआ है। भारत जैसे नैतिक-आध्यात्मिक देश में 'काम' के शमन-दमन और उत्पात की परम्परा समानान्तर रूप से चलती रही है। भारतीय काव्यशास्त्र में 'काव्य दोष' प्रकरण के अंतर्गत 'अश्लीलत्व' का विधान किया गया है। यानी साहित्य की सिद्धि में, 'रस निष्पत्ति' में अश्लीलत्व बाधक रहा है। बावजूद साहित्यकारों के बीच अश्लीलता उस रूप में 'हेय' कभी नही रहा, जैसा कि सामाजिक-नैतिक व्याख्याकारों के बीच। ऐसा क्यों हुआ? इसे समझे जाने की आवश्यकता है। सामाजिक दृष्टि से जो 'हेय' हैं, वह साहित्यिक दृष्टि से क्या उसी रूप में, 'उतने ही अनुपात' में 'हेय' होता है? नहीं, साहित्य का अपना 'ट्रीटमेन्ट' है। अगर उसने अश्लीलत्व को देखने का अपना नजरिया विकसित किया है तो इसे समझने की आवश्यकता है। प्रश्न है क्या साहित्य के लिए 'काम-चित्रण' अनिवार्य है? इस प्रश्न को देखने से पूर्व हम यह समझें कि 'काम' व 'प्रेम' का क्या सम्बन्ध है? और वह कौन-से बिन्दु हैं, जब काम, 'प्रेम' में रूपांतरित हो जाता है? मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो 'काम भावना' मनुष्य की मूल मनोवृत्ति है। यह वृत्ति चूंकि मनुष्य के अस्तित्व (सृजन-उत्पादन-परम्परा) से जुड़ी हुई है, इसीलिए प्रत्येक मनुष्य इस वृत्ति से संचालित-प्रभावित होता रहा है। बावजूद इसके 'स्वीकार' एवं 'अस्वीकार' का द्वन्द्व भी कम नहीं रहा है। प्रश्न है ऐसा क्यों? हमारी मूल वृत्ति 'हमारे होने का चिह्न' भी है और हमारे पलायन का भी...। काम, क्रोध, लोभ-मोह, घृणा...जैसे मनोविकार व्यक्ति के मूल में भी होते हैं और व्यक्ति उसका अतिक्रमण भी करता है। अपने मूल रूप में यही वृत्तियाँ मनुष्य और पशु-जगत दोनों में पाई जाती हैं। पशु मूल वृत्तियों से चिपटे रहते हैं और मनुष्य मुक्त हो पाता है। [कुछ मनुष्य] ''मनुष्यता की यात्रा मूल के होने-स्वीकार करने एवं उनके अतिक्रमण से जुड़ी हुई है।'' यहाँ पर यह समझने की आवश्यकता है कि 'प्रेम' व 'काम' में क्या

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

साम्य है? और इनमें प्राथमिकता के आधार पर मूल वृत्ति कौन सी है? जब हम साहित्य के स्थायी भावों की गणना करने लगते हैं तो उसमें रति (प्रेम) को रखते हैं। हांलाकि उस प्रेम में काम भी अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ होता है। प्रेमयुक्त 'काम' हो तो मनुष्यता के लिए, स्वस्थ समाज के लिए अनिवार्य है। प्रेम मुक्त काम (?) पशुता, सामाजिक रूग्णता का ही चिह्न है, फिर भी समाज का सचेत वर्ग, साहित्यकार अपने साहित्य में 'काम भावना' का उद्रेक कराता रहा है। क्या काम से प्रेम तक के चित्रण में सामाजिक भूमिकाओं की अपनी आंतरिक संरचनाएँ भी अपने ढंग से निर्णायक भूमिका अदा करती हैं? स्त्री-पुरूष का शारीरिक आकर्षण जब अपनी सामाजिक भूमिका स्थिर...करके अपनत्व-लगाव-करूणा तक पहुँच जाता है, तब उसे हम 'प्रेम' कहते हैं। स्पष्ट है कि काम/वासना का केन्द्र बिन्दु 'शरीर' है तथा प्रेम का केन्द्र बिन्दु 'हृदय'। काम से प्रेम तक की यात्रा शरीर की स्थूलता से सिमट कर सूक्ष्मता तक जाना भी है। साहित्यकार के लिए स्थूल काम...शरीर, धीरे-धीरे सूक्ष्म प्रेम...हृदय...संवेग तक चला चलता है। ज़ाहिर है यह द्वन्द्व पशुता-मनुष्यता का भी है और स्थूलता-सूक्ष्मता का भी। हर युग का समाज व साहित्यकार अपने ढंग से इस द्वन्द्व से जूझता रहा है। सामाजिक प्रक्रिया के बीच स्थूलता-सूक्ष्मता, रीतिवाद-स्वच्छन्दतावाद, क्लासिक-रोमानीपन, जड़ता-गत्यात्मकता के बीच काम के प्रेम में व प्रेम के काम में रूपान्तरण की प्रक्रिया चलती रही है। सेब खाने से पूर्व के रूपक में प्रेम है और खाने के बाद काम...यानी दोनों के बीच बहुत पतली-महीन रेखा है, जिसके कारण साहित्यकार दोनों दरवाजों में प्रवेश करता रहा है, तो प्रेम से काम में व काम से प्रेम के रूपान्तरण की प्रक्रिया सामाजिक-मनोवैज्ञानिक रूप में भले ही अलग ढंग से होती हों, किन्तु साहित्य में इनके आगमन की प्रक्रिया का अपना ही 'ठाठ' होता है। साहित्य के इसी 'ठाट'/ट्रीटमेन्ट या दो दरवाजों की आवाजाही, उसे विशिष्ट रूप प्रदान करती है। प्रश्न फिर यह कि साहित्यकार अपनी रचना में कामोद्दीपन के रंग क्यों भरता है? क्या इसीलिए कि वह मनुष्य की मूल वृत्ति है और मूल वृत्ति का गठन आकर्षक होता है, क्योंकि मूल वृत्ति की दमित-भावना की तात्कालिक-मानसिक पूर्ति होती है? या साहित्यकार का कोई विशेष प्रयोजन होता है...हो सकता है? एक उत्कृष्ट साहित्यकार जब अपनी रचना में (जैसे कालिदास, सूरदास आदि...) कामोद्दीपन के चित्र प्रस्तुत करता है तो उसका उद्देश्य क्या लोगों की दमित भावनाओं को संतुष्ट करना हो सकता है? एक श्रेष्ठ रचना हमारे मनोभावों का 'उदात्तीकरण' ही करती है। काम के प्रति हमारी कुंठा का शमन कर वह हमें प्रेम के लिए ही तैयार करती है। बिना कामदेव को भस्म किये शिव को पार्वती की प्राप्ति नहीं होती...उसी प्रकार काम के शमन के बिना प्रेम की उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। साहित्य में व्यक्त मनोवृत्तियाँ केवल हमारा 'रेचन' ही नहीं

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

करती, बल्कि वे हमारे 'मनोभावों का विस्तार' भी करती हैं। एक कुशल साहित्यकार जब अपनी रचना में श्रृंगार (काम) के चित्र उपस्थित करता है तो उसके पीछे उसका उद्देश्य उस वृत्ति के प्रति हमारी समझ (इन्द्रिय ग्रहण) को थोड़ा और विस्तृत करना ही होता है। बावजूद इसके 'साहित्यिक अश्लीलत्व' को सामाजिक प्रतिष्ठा कभी नहीं मिली...यह अलग बात है कि हर युग में...कोई-न-कोई साहित्यकार इसका चित्रण करता ही रहता है। यहाँ पर हम बड़े साहित्यकार व छोटे साहित्यकार...श्रेष्ठ रचना व घटिया रचना के पार्थक्य को भी समझ सकते हैं। श्रेष्ठ रचना 'काम के चित्र' के माध्यम से 'काम का उदात्तीकरण' करता है। तुलसी के लिए 'मानस' काम का उदात्तीकरण है...उसका लोक-वृत्त है, किन्तु एक घटिया रचनाकार के लिए इन्द्रिय-उत्तेजना का साधन। कालिदास के अश्लील चित्र [?] या विद्यापति सूर के 'खुले चित्र' (उरोज, नितम्ब...) जब हमारे सामने आते हैं तो हमारे अन्दर का काम-भय/संकोच कुछ देर के लिए हमारे सामने आ जाता है...हम उससे साक्षात्कार करते हैं और उसके उत्सव में स्नान कर तरोताजा हो जाते हैं। एक कुशल साहित्यकार अपने काम-चित्रण के बहाने हमारी काम-भावना का उदात्तीकरण करता है, वहीं एक घटिया साहित्यकार काम को 'गोपन' बना देता है। गुप्त/गोपन चीजों में विकार आ जाये तो क्या आश्चर्य? 'मनोवृत्तियों की निश्छलता, तरलता प्रेम की ओर' जाती है; तो 'मनोवृत्तियों का गोपन कुंठा की ओर'। जब एक घटिया साहित्य में 'कामचित्र' आते हैं तो उनका उद्देश्य हमारी इन्द्रियों को उत्तेजित करना ही होता है और इस उत्तेजना के पश्चात वे हमें कहीं ऊपर नहीं ले जा पाते, बल्कि वहीं/नीचे ले जाकर...छोड़कर गायब हो जाते हैं। उनके दृश्य/चित्र इतने 'स्थूल' होते हैं कि उनमें वृत्तियों के रेचन के लिए अवकाश नहीं होता। एक कुशल साहित्यकार के काम-चित्रण में हमें अंत तक 'साथ चल रहे सहायक' का बोध होता है, जबकि एक घटिया साहित्यकार कुछ देर ले चलकर हमें 'आधे रास्ते' ले जाकर गायब हो जाता है। यह बीच में...साथ छोड़ देना घटिया साहित्य और व्यक्ति दोनों का लक्षण है। श्रेष्ठ साहित्य कुशल सहायक/ मित्र की भांति होता है जो हमें आश्वस्त करता है...हमें गन्तव्य तक पहुँचाता है, हाँ इस गन्तव्य में टेढ़े-मेढ़े रास्ते (भावों का...अनुभूतियों का...) भी होते हैं, जिनसे बचाना भी उसी का दायित्व है।

साहित्य में अश्लीलता का आगमन क्या उस रचना की आंतरिक सरंचना से भी जुड़ा हुआ है? क्या अश्लीलता का भी 'फार्म' (रूप) होता है, खासकर बड़ी रचना में। 'रामायण' में 'रावण' का सीता के प्रति 'अश्लीलत्व' है, जबकि राम की सीता के प्रति वृत्ति प्रेम, तो अपने विराट सांस्कृतिक प्रश्नों (आर्य-अनार्य संस्कृति के संघर्ष) के बावजूद अपनी संरचना के आंतरिक स्तरों पर एक प्रश्न श्लील-अश्लील का भी है। ग्रहण और त्याग के इन प्रश्नों के बीच 'काम' और 'प्रेम' का द्वन्द्व बुना

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

गया है। 'महाभारत' में इसी प्रकार द्रौपदी के माध्यम से दुर्योधन (कामवृत्ति-लालसा-लोभ) एवं पाण्डवों (परस्पर-प्रेम-साहचर्य) का द्वन्द्व रचित हुआ है। ऐथेन्स और ट्राय का संघर्ष भी 'हेलेना' के केन्द्र से रचित हुआ है। मानस में तुलसी काम के दमन से 'प्रेम का उदात्तीकरण' रचते हैं। वहीं आधुनिक काल में प्रसाद 'काम को सृजनात्मक' बना देते हैं। 'बुद्धि' और 'हृदय' (इड़ा और श्रद्धा) का द्वन्द्व कभी-कभी 'काम' (अधिकार-लिप्सा) व 'प्रेम' (त्याग-समर्पण-करूणा) का आभास भी कराने लगता है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम' में दुर्वासा-शकुंतला-दुष्यंत के श्राप की घटना में...काम के आरोहण के बहाने प्रेम की विस्मृति और काम की उपस्थिति (विवाह-त्याग-संतान) का भी चित्र खींचा गया है। मंटो-चुगताई की रचनाएँ या 'उग्र' का साहित्य अपने 'अश्लीलत्व विधान' के कारण भी चर्चित रहा। मंटो ने 'समाज' और 'व्यक्ति' के बीच छिपे 'भ्रम' के परदे को हटा दिया। इस प्रकार कई रचनाएँ हैं, जहाँ 'रचना की आंतरिक संरचना' में 'काम का प्रवेश' कराकर रचनाकार 'प्रेम की प्रतिष्ठा' करते रहे हैं। एक रचना में 'अश्लीलत्व' का आगमन कई बार इन्द्रिय और चेतना...कई बार घटना व अनुभूति...कई बार काम व प्रेम व कई बार कथानक व चरित्र के द्वन्द्व में समाविष्ट कर लिया जाता है। 'कुमारसंभव' महाकाव्य में कालिदास ने शिव-पार्वती के बहाने काम-प्रेम और उत्तरदायित्व का 'त्रि-वृत्त' ही रचा है। मनोवृत्तियों का 'त्रि-वृत्त' कई बार कथानक की आंतरिक संरचना के अनुकूल ही रचा गया है। इसीलिए इस प्रकार का गंभीरतापूर्वक विचार किया जा सकता है कि रचना में अश्लील चित्रण का सामाजिक-मनोवैज्ञानिक व संरचनागत औचित्य क्या है? कौशाम्बी जी के मत से सहमति व्यक्त करते हुए राजेश जोशी जी ने साहित्य की कामोद्दीपकता को संक्रमण कालीन चेतना से जोड़ा है। उनके अनुसार-''कविता में या साहित्य में कामोद्दीपकता या इरोटिसिज्म एक संक्रमण के समय का, अनिश्चितताओं से भरे समय का विमर्श है'' इस तर्क से क्या पूरी तरह से सहमत हुआ जा सकता है? कालिदास-जयदेव-रासो साहित्य निश्चित ही संक्रमणकालीन चेतना की उपज हैं, लेकिन क्या रीतिकाल को भी हम संक्रमणकाल कहें? रीतिकाल तो ऐतिहासिक दृष्टि से पूरी तरह से 'स्थिर काल' है। राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक रूप से, कम-से-कम तो इस समाज में उतनी अस्थिरता नहीं है फिर अश्लीलता का आगमन क्यों? और फिर एक ही समाज, एक ही स्थिति, एक ही काल में जब कई प्रकार के रचनाकार काम कर रहे हों तो फिर इस प्रकार के सरलीकरण को कैसे स्वीकार किया जा सकता है। रीतिकाल काव्य और उस समाज का चित्रण करते हुए राजेश जोशी ने लिखा है-''मुगलकाल के अंतिम दौर में जब व्यवस्था निष्प्राण होने लगी, इसको बचाने और बनाए रखने के लिए एक ढांचा बनाया गया-रीतिकाल इस बाहरी ढांचे का प्रकाश है। एक हद तक यह सही है कि

CC-OAgamnigam Digital Preservation
Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रीतिकाल का कवि ''सरस राग रति रंग'' रचते हुए, अलंकृत काव्य और नाटकों के लिए कामशास्त्र, नायिका भेद और अलंकार शास्त्रों का सहारा ले रहा था और भोक्ता वर्ग के मनोरंजन के लिए ही कविता रच रहा था लेकिन क्या उसमें उसकी अपनी मुक्ति की आकांक्षा भी अंतर्निहित नहीं थी? घनानन्द ही नहीं कई बार अन्य रीतिकाल के कवि भी क्या रीति की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर जाते? संभवतः केशव ने ही कहा है कि ''कहत सर्वे रति में मुकुति''। मुक्ति का यह रूपक ऐसे संक्रमण के समयों में रचना में केन्द्रीयता और एक हद तक एक अनिवार्यता प्राप्त कर लेता है जब समाज में मुक्ति का विचार और उसके व्यापक राजनीतिक-सामाजिक आन्दोलन शक्तिशाली नहीं होते, प्रतिरोध की शक्तियाँ जब बिखरी होती हैं या उनका क्षरण हो जाता है। इसे रीतिकाल के संदर्भ में भी समझा जा सकता है और अकविता आन्दोलन के संदर्भ में भी।'' (एक कवि की नोटबुक, पृष्ठ 154) रीतिकालीन साहित्य के उदय के कारणों की जांच करते हुए जब हम मुगलकाल की स्थिति पर विचार करते हैं, तब देखते हैं कि शासक वर्ग द्वारा भोग की सामग्री के रूप में रचना का उपयोग किया गया। इस प्रकार का प्रयास पूँजीवादी युग में-उपभोक्तावादी युग में और तीव्र ही हुआ है। अब रचना और सत्ता का सम्बन्ध उतना स्थूल नहीं रह गया। पूँजीवाद ने रचना को 'चेतना' या कहें कि उपभोक्ता-संस्कृति में रूपांतरित कर दिया...इस रूपांतरण की प्रक्रिया में 'अश्लीलत्व' की संरचना भी बदली। कई जगह उसने अपने रूप बदले, मुखौटे लगाए। कभी यर्थाथवाद का (अतियर्थाथवाद का), कहीं मूल वृत्ति का (फ्रायड-मनोविज्ञान) कहीं 'लोकप्रियता' का तो कहीं 'युग-धर्म' का...। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जब प्रतिरोध से इतर साहित्य को ''सिद्धावस्था का साहित्य'' कहते हैं तब बात थोड़ी और स्पष्ट होती है। प्रतिरोधी साहित्य में बाहय-विधान (व्यवस्था की असंगति) को केन्द्रीयता प्राप्त होती है, जबकि सिद्धावस्था के साहित्य में आंतरिक वृत्तियाँ (मनोग्रन्थि) प्रभावी हो जाती है। अश्लीलता का प्रश्न इसीलिए बाहय विधान (सत्ता-राजनीति, सामाजिक विधान...) और आंतरिक वृत्तियों दोनों से जुड़ता है, संचालित होता है। बाह्य और आंतरिक विधान के संघर्ष (द्वन्द्व) और संरचना को 'अश्लीलता' के माध्यम से समझा जा सकता है। यहाँ हम बाहय-आंतरिक विधान के अंतर्सूत्र को तलाशें, उसके पूर्व उस लेखकीय व्यक्तित्व की पड़ताल करें, जिसके कारण-जिसके माध्यम से...'अश्लीलता' प्रकट होती है। लेखकीय व्यक्तित्व और वर्ण्य-विषय का सम्बन्ध उस रूप में सीधा-सपाट नहीं है कि 'ऐसा' व्यक्तित्व इस प्रकार की रचना ही करेगा...हाँ मोटे रूप में यह अवश्य स्पष्ट है कि 'औदात्य विषय-वस्तु अपने लिए मर्यादा का वृत्त रचती' है, जबकि 'स्वच्छन्द विषय-वस्तु मर्यादा का अतिक्रमण कर जाती' है, लेकिन फिर प्रश्न यह है कि 'कुमारसंभव' में कालिदास

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

के चित्रण में स्वच्छन्द-वृत्ति का आगमन किस प्रकार संभव हुआ है? यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'कुमारसंभव' की मूल संरचना या कहें कि द्वन्द्व काम-विजयी शिव और उनके पुत्र की उत्पत्ति का प्रश्न है। कार्तिकेय द्वारा तारकासुर जैसे राक्षसों का वध रचना का दूसरा धरातल है। वहीं रचनाकार जब 'रघुवंश' का चित्रण करता है तो मर्यादा का वृत्त निर्मित कर देता है। इस सम्बन्ध में एक दूसरा तर्क चित्रण के माध्यम से 'वैशिष्ट्य' प्रदान करना भी हो सकता है। इसीलिए लेखकीय व्यक्तित्व के साथ काम चित्रण को वैसा अनिवार्य सम्बन्ध निर्मित नहीं हो पाता है। हां, लेकिन जीवन शक्ति के मूल बिन्दुओं की खोज की प्रक्रिया में इस प्रकार के तर्क को नये ढंग से रेखांकित किया जा सकता हे। इस संदर्भ में क्या लेखकीय परिवेश के प्रश्न पर विचार किया जा सकता है? मन्टो जैसे रचनाकारों ने जिस परिवेश को जिया, उसे अपनी रचना में व्यक्त किया...समाज की नग्न सच्चाई और मनुष्य के घिनौने पक्ष का चित्रण उसी परिवेश में रहा व्यक्तित्व ज्यादा प्रामाणिक ढंग से जी सकता है...रच सकता है, तो कालिदास के युग का 'सामंती व्यभिचार' ही क्या अचानक से 'कुमारसंभव' में पुनर्प्रकाशित हो उठा है? या मंटों का नग्न परिवेश उसकी रचना में? जब विद्यापति या रीतिकालीन कवि श्रृगांर के चित्र खींच रहे होते हैं, तो उनकी वर्गीय स्थिति के संदर्भ में उनके व्यक्तित्व को प्राय: भुला दिया जाता है। इस संदर्भ में विद्यापति का व्यक्तित्व तो हमें और आश्चर्यचकित करता है। मूलत: भक्त होते हुए भी कवि जब काम के खुले चित्र खींचता है, तो उस 'युग की सक्रान्तिकालीन चेतना' के साथ ही विद्यापति का 'परिवेश', 'लोकधर्मिता' एवं उनका 'अपना व्यक्तित्व'...साथ ही रचना की संरचना भी अपना योग दे रही होती है। या भक्त कवि सूरदास के काव्य में आये नायिका के गुप्त अंगों की चर्चा...हास-परिहास। क्या इसे महज हम रीतिकाल की आहट कहकर खारिज़ कर दें? ऊपर हमने क्लासिक और स्वच्छंद परंपरा पर चर्चा की। कालिदास, जयदेव, विद्यापति, सूर स्वच्छंद परंपरा के गायक हैं...शायद इसीलिए शिव और कृष्ण को ये अपना आराध्य...वर्ण्य-विषय बनाते हैं। हाँ एक तर्क यह हो सकता है क्योंकि कथ्य की आंतरिक संरचना भी विषय के निर्धारण में सहायक होती ही है।

(2)

आज साहित्य में अश्लील अवधारणा को लेकर साहित्य में काफी बदलाव आये हैं। पश्चिमी जगत के बीच डी.एच. लारेंस [लेडी चैटर्ली का प्रेमी], ब्लादिमीर नावोकोव [लोलिता], एल्फ्रीडे यलिनेक [पियानो टीचर], ई.एल. जेम्स [फ़िफ्टी शेड्स], पावलो कोएलो [इलेवन मिनट्स]...इत्यादि पापुलर लिटरेचर के रूप में

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

ख्यात रहे हैं। फ्लावेयर की मदाम बोबेरी को लेकर जिस प्रकार मुकदमा झेलना पड़ा, वैसा कुछ नावोकोव को नहीं। नावोकोव की रचना लोलिता को नोबेल पुरस्कार देकर सम्मानित करना क्या पश्चिमी जगत का 'काम' को साहित्यिक मान्यता देना था...और जो वहाँ के 'पापुलर लिटरेचर' के लिए वरदान सिद्ध हुआ? या यह पूँजीवादी खेल का महज एक छोटा हिस्सा-भर था? जो पुस्तक उत्पादन-वितरण से लेकर उपभोक्ता की संभावित छवियों के साथ खेल रहा था? जब हम पश्चिमी पापुलर लिटरेचर में महिलाओं की सक्रियता देखते हैं तो इस प्रश्न के साथ एक अन्य आयाम जुड़ जाता है। स्त्री लेखन के साथ आये स्त्री स्वर की नयी परिभाषा, जिसमें पुरुषों द्वारा स्थापित मान्यताएँ छिन्न-भिन्न होने लगती हैं। एशिया महाद्वीप में इसी समय शोभा डे, तसलीमा नसरीन, कृष्णा सोबती, मृदुला गर्ग, मैत्रयी पुष्पा...का लेखन अपने ढंग से साहित्य और अश्लीलता के प्रश्न को उठा रहा था। हालांकि खुद 'चितकोबरा' उपन्यास के रति दृश्य रचकर अदालत का सामना करने वाली मृदुला गर्ग आज के साहित्य के सेक्स विवरण में सौन्दर्यबोध का अभाव देखती हैं, तब प्रश्न फिर घूमकर उठता है कि साहित्य में अश्लीलता का प्रसंग/ काम चित्रों का आगमन बिना सौन्दर्यबोध के समवाय से निरर्थक ही है। यहाँ फिर से हम रीतिकाल की ओर लौटते हैं। संस्कृत साहित्य और रीतिकालीन साहित्य में नखशिख वर्णन की लम्बी परंपरा मिलती है। इन चित्रों में सौन्दर्यबोध की कमी नहीं रही है, बावजूद इसके ये उत्कृष्ट कोटि के साहित्य में परिगणित नहीं किये जा सके। साहित्य में रति चित्र हों या कामोद्दीपन के प्रसंग, वह उतना त्याज्य नहीं; हाँ बशर्त कि रचना अपनी व्यंजना में हमें कहाँ ले जा रही है? यह प्रश्न साहित्य का बाह्य प्रश्न नहीं है, अपितु भीतरी प्रश्न है। डॉ. नामवर सिंह भले ही कहें कि-"इन रचनाओं का मुख्य अपराध दरअसल यह रहा है कि उन्होंने पूँजीवादी व्यवस्था के नैतिक ढोंग का उद्घाटन किया है", किन्तु प्रश्न यह है कि ढोंग के उद्घाटन की प्रक्रिया क्या इतनी सपाट ही होनी चाहिए?

मम्मट ने अश्लीलता का कारण व्रीडा या जुगुप्सा माना है। यह एक मनोवैज्ञानिक पर्यवेक्षण है। शिष्ट साहित्य के बनिस्पत लोक साहित्य में रति प्रसंग/सन्दर्भ बहुतायत मिल जायेंगे। देवताओं को गाये जाने वाले 'गारी' गीत हों या विवाह अवसर पर गाये जाने वाले 'गारी' गीत...ये सभी काम के उत्सव चिह्न हैं। काम को सामूहिक रूप में...समाज के बीच देखने की कोशिश जुगुप्सा को तोडती है। काम उन्मुक्त समाज में अश्लीलता को लेकर हमारी अवधारणा भी बदल जाती हैं। आज जब गारी गीत समाप्ति की ओर हैं...और पूँजीवाद ने काम को सनसनी, उत्तेजना के रूप में प्रस्तुत करने का विधान रचा है, तब साहित्य में अश्लीलता का प्रश्न जटिल बन जाता है। हिंदी के आलोचक जब विद्यापति साहित्य में आये अश्लील शब्दों /

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भंगिमाओं को पाकर परेशान हो उठते हैं, तब यह देखना दिलचस्प हो जाता है कि उनकी लोकप्रियता का कारण उनकी लोक जीविता ही रही है, जो [लोक] काम को अकुंठ भाव से देखने का विधान उन्हें देता है। शिष्ट साहित्य की तरह लोक में काम उस तरह से बाहर से लाया गया विधान/ नुस्खा नहीं है। यह जीवन का अंग है। और जीवन अपनी गत्यात्मकता में अश्लील कैसे हो सकता है? काम को बाहर से उभारना पूँजीवादी नुस्खा है, जो अश्लील है; किन्तु काम को भीतर से उभारना लोक साहित्य का विधान है और शिष्ट साहित्य का भी...और यह जीवन का प्रतीक है।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

प्रेम और कथानक का प्रश्न

22.02.2015

कथानक और प्रेम के संदर्भ में हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सर्वप्रथम विचार किया है। हांलाकि उन्होने रामभक्ति और कृष्णभक्ति काव्य परम्परा के संदर्भ में 'सामाजिकता' का प्रश्न उठाया है। शुक्ल जी ने तुलसी के प्रेम चित्रण को इसलिए सराहा है, क्योंकि वह लोक के बीच से विकसित हुआ है। इसके विपरीत सूरदास का प्रेम चित्रण समाज की मुख्यधारा से कटा हुआ है...समाज से नहीं जुड़ पाता। वस्तुतः इस प्रश्न के पीछे मुझे शुक्लजी की मुख्य चिन्ता कथानक और घटना की आवयविक एकता का अंर्तसंबंध टूटने से ही लगता है। मेरी चिन्ता घटना और कथानक के अनिवार्य सम्बन्ध या द्वन्द्वात्मक संबंध बनने-न-बनने से जुड़ी हुई है। किसी रचना में यदि कोई घटना तात्कालिक रूप से तो आ रही हो, किन्तु सम्पूर्ण रचना की गतिशीलता में न जुड़ पा रही हो तो उस कहा जाय ? कृष्ण का रास-लीला प्रकरण क्या सूर की रचना का अनिवार्य अंग नहीं है? निश्चित रूप से सूरदास, नंददास या रत्नाकर जैसे कवियों का 'भ्रमरगीत सार' प्रकरण उनकी रचना का अनिवार्य अंग है, हां, कृष्णकथा के मूल ग्रन्थ में से एक ''महाभारत'' में यह संबंध अवश्य खण्डित हुआ है। महाभारत के संपूर्ण कथानक में कृष्ण के प्रेम-चित्रण का रचना के साथ 'आयविक एकता' निर्मित नहीं हो पाती। यहाँ कथानक और प्रेम-चित्रण की संरचना के संदर्भ में कुछ प्रश्न उपस्थित होते हैं। पहला प्रश्न यह है कि क्लासिक रचना और प्रेम-रचना के कथानक-निर्माण में क्या मूलभूत अंतर होता है ? और यदि अंतर होता है तो उसका स्वरूप किस प्रकार का होता है ? क्लासिक रचना के साथ कथानक-निर्माण या प्रेम-रचना के साथ कथानक निर्माण के प्रश्न पर विचार करने से पूर्व क्लासिक रचना और प्रेम-रचना की प्रकृति को समझना अनिवार्य है। क्लासिक रचना के गठन में समाज की मूलभूत वृत्तियों की भूमिका मुख्य होती है, जबकि प्रेम-रचना के गठन में व्यक्ति की मूलभूत वृत्तियों की भूमिका मुख्य होती हैं। प्रश्न है समाज और व्यक्ति की मूलभूत वृत्ति में क्या अंतर है? समाज की

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

संरचना ओर गति में सामूहिता-अनुशासन-त्याग-उदात्त-संघर्ष....जैसी वृत्तियों का बाहुल्य होता है, जबकि व्यक्ति की मूलभूत वृत्ति में भावावेग, एकान्त, प्रेम, आनन्द...जैसी वृत्तियों का बाहुल्य होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे और स्पष्ट ढंग से विभाजित करते हुए 'साधनावस्था' और 'सिद्धावस्था' का काव्य कहा गया है। हांलाकि व्यक्ति की मूलभूत वृत्ति-प्रेम, क्रोध-घृणा, करूणा-त्याग...जैसे मनोविकारों की केन्द्रीयता क्लासिक रचनाओं में तथा स्वच्छन्द रचनाओं, दोनों में देखने को मिलती है। क्लासिक रचनाएँ हर युग व समाज के लिए इसीलिए काम्य बन पाती हैं, क्योंकि वह हमारी मूलभूत वृत्तियों से संचालित होती हैं। स्वच्छन्द रचना में भी मूलभूत वृत्ति का चित्रण होता है, फिर क्लासिक एवं स्वच्छन्द रचना के चित्रण में मूलभूत अंतर क्या है? क्या इस संदर्भ में मुख्य अंतर यह है कि क्लासिक रचनाओं में मूल वृत्ति को स्थायी भावों के संदर्भ में सामाजिक गति से जोड़ा जाता है और स्वच्छन्द रचनाओं में मूल वृत्ति को संचारी रूप के संदर्भ में व्यक्ति-मन की गति से? यहाँ यह न समझा जाय कि स्वच्छन्द रचना में स्थायी भाव की उपस्थिति नहीं होती, बल्कि हमारे कहने का अर्थ यह है कि इस प्रकार की रचना में एक ही स्थायी भावों के संदर्भ में संपूर्ण कथानक का विस्तार किया जाता है। एक स्थायी भाव प्राय: व्यक्ति मन-प्रवृत्ति से जुड़ता है और कई स्थायी भाव बड़े सामाजिक वृत्त से...। इसीलिए प्रेम रचनाओं में रति स्थायी भाव की पुष्टि ही पूरे काव्य में करनी काम्य होती है। श्रृंगार एवं वियोग श्रृंगार के भेदों का विस्तार...करना ही लेखक का काम्य होता है। इस संदर्भ में एक मुख्य भेद और भी है, क्लासिक रचना में स्थायी भावों को सामाजिक वृत्त के संदर्भ में विस्तार दिया जाता है, जबकि प्रेमपरक रचना में व्यक्ति-केंद्रीयता के संदर्भ में...। इस प्रकार की संरचना के मूल में एक तीसरा आधार चरित्र-निर्माण का प्रश्न भी है। पूरी रचना में एक ही 'स्थायी भाव' हो, तो निश्चित रूप से एक चरित्र के विकास की संभावना ज्यादा पुष्ट होगी। क्लासिक रचना में कई स्थायी भाव हों, और वे अध्याय-क्रमानुसार परिवर्तित होते रहें तो चरित्र के ''वैभिन्न-विस्तार'' की ज्यादा संभावना होगी। हर अध्याय का चरित्र केंद्र भी बदल जाता है और स्थायी भाव भी, किन्तु स्वच्छन्दपरक रचना या प्रेमपरक रचना में अध्याय परिवर्तन के पश्चात भी रचना का मूल भाव, आदि से अंत तक एक ही बना रहता है। प्रश्न है इस प्रकार के चित्रण का मूल कारण क्या है? इसका एक कारण यह भी समझ में आता है कि क्लासिक रचना में चूंकि कथानक का विस्तार/विकास सामाजिक-परिवृत्त में स्थिर किया जाता है। इसलिए भी उसमें सामाजिक गति के अनुसार भाव-परिवर्तन अवश्यंभावी हो जाता है, जबकि प्रेमपरक रचना में व्यक्ति-मनोवेग के अनुसार कथानक का विस्तार किया जाता है। इसलिए उसमें एक गीति/महाकाव्य ही भाव को घनत्व प्राप्त कराता है। इसे दूसरे संदर्भ में समझें।

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

क्लासिक रचनाओं में विस्तार ज्यादा होता है और प्रेमपरक रचनाओं में गहराई/घनत्व। क्या यह कहना उचित होगा? क्या विस्तार और गहराई में ऐसा द्वैतपूर्ण सम्बन्ध है? कुछ लोगों ने इस प्रकार के तर्क का खण्डन किया है। क्लासिक मन के अनुयायियों ने इस मन्त्र को खण्डित करते हुए कहा है कि व्यापकता और गहराई में इस प्रकार का द्वन्द्व/द्वैत देखना मूर्खता है। जिस प्रकार समुद्र में विस्तार भी है और गहराई भी...इसलिए वह अपनी भूमिका में शास्वत बना रहता है; जबकि कुएँ को बहुत गहरा करने के लिए भी व्यापक आधार-भूमि की ही आवश्यकता पड़ती है। कई बार कुएँ को ज्यादा खनने पर भी वह 'पट' (ढक) जाता है, इसी प्रकार भावों के विस्तार और समाज के अंतर्सम्बन्ध को भी हम समझ सकते हैं, जो भाव जितने (बड़े) सामाजिक आधार के संदर्भ में विकसित होगा, वह उतनी ही गहराई को धारण करने की संभावना से युक्त होगा। यहाँ इस तथ्य की जांच आवश्यक है। चूंकि यह बात प्रेम के संदर्भ में हो रही है, इसलिए प्रेम व दूसरे मनोविकारों के पार्थक्य का समझना अनिवार्य है। प्रेम में घनत्व इसलिए होता है कि वह 'स्मृति' के माध्यम से बार-बार रेचित करता चलता है। दूसरा मनोविकार (करूणा के अतिरिक्त...) बार-बार एक ही दशा में नहीं आता...किन्तु प्रेम एक ही घटना, मनोवृत्ति, परिस्थिति की स्मृति-कल्पना में घनत्व-ग्रहण कर लेता है। इसीलिए क्या सूर का चित्रण घनत्व प्राप्त कर लेता (वात्सल्य के प्रसंग में शुक्लजी 'कोना-कोना झांकना' कहते हैं...) है? यहाँ उस संरचना को समझना अनिवार्य प्रतीत होता है कि किसी रचना को घनत्व और व्यापकता किस प्रकार प्राप्त होती है? जैसा कि हमने संकेत किया घनत्व और व्यापकता व्यापक रूप में जुड़े हुए हैं, लेकिन अपने चित्रण के क्रम में...प्रमुखता में 'व्यापकता' और 'गहराई' अलग रूप ग्रहण कर लेते हैं। ''व्यापकता'' में सामाजिक वृत्त, गति और व्यापक परिवर्तनकारी दृष्टि शामिल हो जाती है और ''गहराई'' में भावों का उद्रेक, कल्पना-शक्ति, मानवीय सम्बन्ध की तीव्रता...इत्यादि प्रमुखता पा जाते हैं, तो क्या इसीलिए व्यापक आधार वाले काव्य सामाजिक समस्याओं से युक्त हो जाते हैं और गहराई के आधार वाले काव्य व्यक्ति-समस्या से युक्त हो जाते हैं। यहाँ यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि व्यापकता और गहराई मूल रूप से विरोधी दशा है, जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कथन के संदर्भ में यह भ्रम फैलाया गया कि तुलसी का काव्य सामाजिक और सूर का काव्य स्वच्छन्द परम्परा का...। रचना की व्यापकता केवल कथ्य में बड़ी-बड़ी समस्याओं को ले आने से नहीं होती, बल्कि ''चित्रण की सहृदयता'' से मिलती है। ''चित्रण की सहृदयता'' व्यापकता को घनत्व प्रदान कर देता है और घनत्व को व्यापकता।

कथानक और प्रेम के संदर्भ में सूफी काव्य परम्परा का विश्लेषण करना उचित होगा। प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा (सूफी काव्य परम्परा) में कथा का विस्तार,

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

दूसरे कथानकों की अपेक्षा भिन्न आदर्शों एवं पद्धति पर हुआ है। नायिका (परमात्मा) के गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन इस प्रकार की कहानियों का विस्तार दिखाया गया है। इस प्रकार के सूत्र भारतीय परम्परा में भी मिल जाते हैं और फारस में भी...लेकिन इस संदर्भ मे...कथानक की दृष्टि से खटकने वाली बात यह है कि इस प्रकार की संरचना में 'अस्वाभाविकता का तत्व' प्रभावी हो जाता है। प्रेम की उत्पत्ति में नायक-नायिका को एक-दूसरे को देखना-परस्पर आकर्षण (शारीरिक...) या तो प्रेम के उदय का आधार बनता है या लम्बे साहचर्य के कारण एक-दूसरे के गुणों-व्यक्तित्वों से प्रभावित हो जाना, आप्लावित हो जाना...आधार बनता है। लम्बी अवधि का साहचर्य प्रेम की प्रगाढ़ता व पुष्टता का कारक बनता है। गुण-श्रवण से किसी के बारे में जिज्ञासा हो सकती है, प्रेम नहीं। चित्र-दर्शन भी 'विपरीत व्यक्ति' के प्रति प्रेम का पुष्ट आधार नहीं बनता। प्रेम की उत्पत्ति की इस अस्वाभाविकता के प्रति सूफी कवि भी सचेत थे, इसीलिए उन्होने इसे ''अलौकिकता''/परमात्मा...से सम्बद्ध कर दिया। यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि क्या प्रेमाख्यानक काव्यों एवं दूसरे प्रकार के ग्रन्थों के कथानक-बुनावट में तात्विक भेद है? कथा की संरचना में 'समाज की उपस्थिति' प्रेमाख्यानक परम्परा के ग्रन्थों में कम नहीं है, फिर कथानक में क्या अन्तर है? क्या यह अन्तर है कि 'कथानक की पूर्व-निश्चित योजना' जैसी प्रेमाख्यानक कथाओं में मिलती है, वैसी योजना दूसरे प्रकार के ग्रन्थों में नहीं पायी जाती।

प्रेम और कथानक के संदर्भ में इस प्रश्न पर भी विचार किया जा सकता है कि महाकाव्यों एवं गीति-परम्परा (मुक्तक) की रचनाओं में भेद किस प्रकार उपस्थित हो जाता है? भारतीय परम्परा के चर्चित प्रेम-प्रसंग प्राय: क्लासिक ग्रन्थों में वर्णित मिलते हैं। इस संदर्भ में हम प्रमुख कहानियों पर अपना ध्यान केंद्रित करें-रघुवंश में अज-इन्दुमती (अज का विलाप), महाभारत का पुरूरवा-उर्वषी प्रेम-प्रसंग (पुरूरवा का विरह...), रामायण का राम-सीता प्रकरण (सीता हरण पर राम का शोक/विलाप...), नैषधीय चरित्र का नल-दमयन्ती प्रकरण (हंस विलाप..)। यहाँ एक चीज ध्यान देने योग्य है कि सभी प्रमुख विलापों-विरह के केंद्र में 'पुरूष' ही रहे हैं। आम अवधारणा है कि सामंती समाज में पुरूष-वियोग का चित्रण करना उचित नहीं है, किन्तु क्लासिक रचनाओं में इस प्रकार का चित्रण मिलना अपने आप में विचार के अलग आधार-बिन्दु निर्मित करता है। यहाँ इन प्रेम-घटनाओं के माध्यम से संपूर्ण कथानक में इनकी अनिवार्यता/महत्ता की जांच कर लेना उचित होगा। उपर्युक्त विरह/विलाप प्रसंगों में से राम-सीता वियोग ही केवल मुख्य कथानक का भाग है या दूसरे शब्दों में कहें तो वही सीधे-सीधे मुख्य घटनाक्रम से जुड़ता है। बाद के समाज का ध्यान इस प्रसंगों पर अवश्य गया और उन्होंने इन पर स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे।

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जैसे अज विलाप पर नागार्जुन की प्रसिद्ध कविता ''कालिदास सच-सच बतलाना'', पुरूरवा-उर्वशी प्रसंग पर दिनकर का खण्डकाव्य, उर्वशी, पुरूरवा-उर्वशी के संदर्भ से सखाराव विष्णुराव खांडेकर की ययाति...तो उन प्रसंगों को, जो घटना के...कथानक से सीधे नहीं जुड़े हुए हैं। उनको रचना में रखने का क्या औचित्य है? क्या यह कथानक की अनिवार्यता थी? या कथानक में वर्णित चरित्र को सघन बनाने के लिए इन प्रसंगों की आवश्यकता थी? जिस 'रामायण' में राम का मर्यादित-धीर चरित्र चित्रित-विकसित किया गया है, उसी रचना में राम का विलाप (तब जबकि वे ईश्वर रूप में चित्रित हैं और सुख-दु:ख की मानवीय अनिवार्यता से बंधे हुए नहीं हैं...)? क्या इसे हम घटना/कथानक में कवि के हस्तक्षेप के रूप में देखें? या इस रूप में कि कथानक में ''प्रेम-प्रसंगों को कारूणिक'' रूप देना कथानक की आवश्यकता हो सकती थी? जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया था कि स्थायी भावों में भी रति-करूणा दो भाव सर्वाधिक ''सघन'' रूप में निर्मित होते हैं। कवि/लेखक इन दोनों भावों को एक-साथ रखकर रचनात्मक...''सृजनात्मक गाम्भीर्य'' का अंकन करता है। इस रूप में प्रेम-विलाप के ये दृष्य रचना को ''आत्मिक उत्कर्ष'' प्रदान करते हैं, इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता। कथानक के संदर्भ में महाकाव्य एवं गीतिपरक रचनाओं में वर्णित प्रेम-प्रसंगों की संरचना को देखना उचित जान पड़ता है। महाकाव्यों में वर्णित प्रेम-प्रसंग सामाजिक प्रसंगों की 'इतिवृत्तात्मकता' को तोड़कर, लालित्य...सरस...मानवीय...आत्मिक रूप प्रदान करने के क्रम में रचित होत हैं, जबकि गीतिपरक रचनाओं में प्रेम के माध्यम से समाज को देखने की आकांक्षा कार्य कर रही होती है। समाज की दृष्टि से प्रेम और प्रेम की दृश्टि से समाज को देखना मात्र प्राथमिकता का बदल जाना नहीं है, अपितु व्यक्ति-समाज के द्वैत...द्वन्द्व के साथ ही कथानक के बनने-ढलने की प्रक्रिया भी जुड़ी हुई है। क्लासिक रचनाओं का प्रेम-चित्रण सामाजिक परिवृत्त की बनावट में मानवीय-रोमानी अनुभूति के बनने की प्रक्रिया को उद्घाटित करता है। स्त्री-पुरूष के प्रेम-संबंध की प्रगाढ़ता उसके व्यक्तित्व को धीर-त्यागमय उत्कर्ष और औदात्य से कैसे भर देती है? यह इन प्रसंगों के माध्यम से जाना जा सकता है। गीतिपरक रचनाओं में प्रेम की दृष्टि से समाज (कथ्य-कथानक) को देखने का प्रयास होता है। व्यैक्तिक अनुभूतियों की गति-उमंग-उल्लास को कथ्य (आश्रय-आलम्बन यानी इत्यादि...) में ढालना पड़ता है। कथ्य और अनुभूति का प्रवाह जहाँ कुछ देर...दूर तक निभ जाता है, वहाँ प्रबन्ध रूप में प्रेम-चित्रण होता है और जहाँ कथ्य से अनुभूति का सम्बन्ध बनता-टूटता (पूर्ण) रहता है। वहाँ मुक्तक विधान में प्रेम-चित्रण संभव हो पाता है। गीतात्मकता में भावों का 'नृत्य' होता है और प्रबन्ध में 'भावों का अनुशासन', स्वाभाविक है कि नृत्य में लय और अनुशासन में स्थिरता,

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
सघनता का आधिक्य हो...।

प्रेम-चित्रण के कथ्य में ढलने की प्रक्रिया का क्या साहित्य विधा के अनुशासन से भी सम्बन्ध है? काव्य और गद्य के अनुशासन का क्या प्रेम-चित्रण पर प्रभाव पड़ता है? कविता और गद्य के कथानक की सृजन-प्रक्रिया का पार्थक्य क्या 'प्रेम' की आंतरिक संरचना पर प्रभाव डालता है? प्रेम, कविता में 'फिट' बैठता है या गद्य में? कविता या काव्य में 'संवेदना का धनीभूत रूप'' गद्य की अपेक्षा ज्यादा प्रभावी-आवेगात्मक होता है। पद्य में संवेदना, बिम्ब रूप में आकर हमें तत्काल विस्फार कर देता है...अत: उसमें गद्य की अपेक्षा भावात्मक आग्रह ज्यादा होता है। चूंकि 'प्रेम' अपनी संरचना में 'भावात्मक-आवेग' ज्यादा लिए हुए होता है। अत: उसमें पद्य से ज्यादा साम्य होता है। बावजूद इसके आधुनिक साहित्य में प्रेम कविताओं से कम प्रेम कहानियाँ नहीं लिखी गईं। गद्य और पद्य में क्रमिकता और प्रभाव का अंतर होता है, तात्कालिक संवेग में प्रवृत्त करने की दृष्टि से पद्य भले ज्यादा असरकारक होता है, किन्तु लम्बी प्रक्रिया में गद्य के 'कथानक-संरचना' की समझ आवश्यक है। गद्य में 'संवेदना' के ढलने की प्रक्रिया परिवेश-कथ्य-चरित्र इत्यादि के घात-प्रतिघात/द्वन्द्व से निर्मित होती है। पद्य में भी कथ्य होता है, चरित्र होते हैं और उनका परिवेश भी होता है, फिर दोनों अनुशासनों में पार्थक्य किस बिन्दु पर उत्पन्न हो जाता है? यहाँ प्रक्रिया और क्रम की समझ आवश्यक है। कविता में अनुभूति को ढालने के लिए परिवेश-कथ्य की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु गद्य में विचार को संवेदना में ढालने के लिए कथ्य-परिवेश-विचार की आवश्यकता पड़ती है। एक विचार से चलता है (गद्य) और दूसरा संवेदना से चलता है (पद्य)। एक में संवेदना को कथ्य का आधार चाहिए, दूसरे में संवेदना के ढलने की प्रक्रिया में कथ्य अपना आधार ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार प्रेम के चित्रण में गद्य और पद्य का अनुशासन उसकी प्रक्रिया की समझ के दो रास्ते, मार्ग की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भविष्य की कविता

04.07.2015

आज एक वरिष्ठजन से भविष्य की कविता पर बातचीत हुई। वे श्री अरविन्द की पुस्तक FUTURE POETRY का अनुवाद कार्य कर रहे है और उन्होंने मुझे पुस्तक के बारे में सूचना दी। संयोग से सैद्धान्तिक आलोचना और श्री अरविन्द दोनों मुझे पसन्द हैं। इसलिए पुस्तक के बारे में जिज्ञासा उठना स्वाभाविक ही था। मुझे 'भविष्य की कविता' से ज्यादा 'कविता का भविष्य' पद ज्यादा महत्वपूर्ण लगता है। श्री अरविन्द की उस पुस्तक के बहाने कविता और उसके भविष्य के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न सहज ही सामने आ गये।

कविता के संदर्भ में एक चीज समझने की है कि वह मूल रूप से कभी नहीं बदलती। जैसे कि मनुष्य नहीं बदलता, उसका मूल स्वभाव नहीं बदलता। आज की कविता या 500 वर्ष पूर्व या पश्चात की कविता में मूलभूत अन्तर नहीं होता है। जीवन स्थितियों में बदलाव जरूर आ जाता है। कविता इन जीवन स्थितियों में हुए बदलाव के साथ मूल मनोवृत्तियों को पकड़ने का प्रयास करती है। कविता बार-बार, नये ढंग से...नये कोण से जीवन-स्थितियों की समीक्षा करती है। लेकिन इसी कोण से कि वह मूल, मानवीय संवेदना तक पहुँच जाये। फिर प्रश्न यह है कि कविता क्या सभ्यता-समीक्षा को द्वितीयक समझती है? वस्तुतः मानवीय संवेदना की उत्पत्ति का प्रश्न सीधा-सादा है भी नहीं। होता यह है कि मानवीय संवेदना की उत्पत्ति और सभ्यता-समीक्षा समानान्तर कोण पर सापेक्ष ढंग से चलते हैं। आज के 500 वर्ष पूर्व यदि मानवीय संवेदना की उत्पत्ति किसी कवि/लेखक को करनी होगी तो वह उस समय के सभ्यता-तंत्र से टकरायेगा, और आज का कवि आज के तंत्र से। बिना इस तंत्र-सभ्यता से टकराये मानवीय संवेदना की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। आज का साहित्य प्राचीन जीवन पद्धतियों को वाह्य रूप में तो स्वीकार करेगा, किन्तु आन्तरिक जीवन स्थितियों के लिए तो समकालीन जीवन-तंत्र ही आवश्यक होता है। हो सकता है कि कोई पूर्व की जीवन-स्थिति किसी रचना का कथ्य बने, लेकिन वह

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

वाह्य रूप में ही होगा। आंतरिक रूप में तो मानवीय संवेदना की गति ही रचना का पाथेय है। इस प्रकार कविता का भविष्य मनुष्यता की यात्रा के साथ ही चलता रहता है। कविता का भविष्य और भविष्य की कविता में मूल पार्थक्य यह होता है कि भविष्य की कविता सामाजिक बदलावों-वाह्य रूपों के परिवर्तन को प्राथमिकता देती है, जबकि कविता का भविष्य आन्तरिक बदलावों-आन्तरिक रूपों पर टिका होता है। भविष्य की कविता अनिश्चित है, किन्तु कविता का भविष्य निश्चित है। कविता का भविष्य मानवीय संवेदना के जीवित होने का प्रमाण है। जिस समाज में भी मनुष्यता, मानवीय संवेदना या मानवीय सरोकारों की प्रतिबद्धता से युक्त संस्कृति जीवित रहेगी, उस समाज में कविता जीवित रहेगी। प्रश्न उठता है कि क्या कविता राग-विहीन समाज की उत्पत्ति है? जब समाज में प्रेम-राग-सौहार्द स्थापित हो जायेगा, तब क्या कविता नहीं होगी? यानी कविता क्या करूणा-दु:ख-अभाव से ही पुष्ट होती है? वस्तुत: कविता सुख और दु:ख दोनों स्थितियों में प्रकट होती है। दु:ख/करूणा से उत्पन्न कविता सामाजिक पीड़ा-विषमता से उत्पन्न होती है तो आनन्द/सुख से उत्पन्न कविता जीवन के राग को पुष्ट करती है। संसार के प्राय: लोकगीत कर्मगत आनंद पूर्ण उल्लास की निर्मिति है। इसलिए समाज कैसा भी हो, कविता अनिवार्य रूप से उपस्थिति होगी।

भविष्य की कविता वही होती है, जिसे जीवन-संग्राम को धारण करने की अनुशासित करने की क्षमता/योग्यता होती है। वह कविता जो भाव-विचार को व्यापक परिप्रेक्ष्य में अनुशासित करने की क्षमता रखती है। भविष्य की कविता पद दो अर्थो में प्रयुक्त होता है। एक कालक्रमिक अर्थ में यानी भविष्य में रची जाने वाली कविता। और दूसरे भविष्य के सपनों आकांक्षा को धारण करने वाली कविता। यानी वह कविता भविष्य की कविता होगी, जिसका पाठ 'भविष्य' में खुलेगा। वह कविता जो अपने समय से आगे की कविता होती है, वह कविता जो अपने समय में अबूझ बनी रहती है। वह कविता जो अपने भीतर हर युग के प्रश्नों के आशय...उत्तर छिपाये रहती है। यानी कुल मिलाकर 'क्लासिक कविता' ही भविष्य की कविता होती है। भविष्य की कविता से आशय ऐसी कविता से है, जो वर्तमान का विस्तार भविष्य में करती है। और केवल वर्तमान ही क्यों...अतीत का विस्तार करने वाली कविता भी...। मानस...बीजक या कोई भी श्रेष्ठ कविता मूलत: भविष्य की कविता ही होती है। कई बार इसीलिए भ्रमवश क्लासिक (भविष्य की कविता) कविताओं के बारे में यह समझ लिया जाता है कि वह अपने वर्तमान के प्रश्नों का अतिक्रमण कर गयी हैं। वस्तुत: भविष्य की कविता वर्तमान के प्रश्नों का अतिक्रमण नहीं करती। वह वर्तमान के प्रश्नों से ही रचनात्मक ऊर्जा का समाधान भविष्य में खोजने वाली कविता होती है।

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भविष्य पद ही अपने आप में इतना बड़ा है कि उसमें न केवल अतीत-वर्तमान समा जाते है, बल्कि भविष्य का अनन्त काल भी समा जाता है। एक बड़े कालाखण्ड को समेटने वाली कविता के पास उत्तदायित्व भी ज्यादा होगा। बड़े उत्तरदायित्व को वही कविता धारण कर सकती है, जिसके पास मानव संस्कृति का बड़ा/ व्यापक ड्राफ्ट हो। अतीत के प्रश्नों को खोजने वाली कविता स्थिर समाज के प्रश्नों को तटस्थ दृष्टि से देखती है। वर्तमान के प्रश्नों को खोजने वाली कविता तात्कालिक समस्याओं-प्रश्नों पर स्थिर/केंद्रित होती है, किन्तु भविष्य की कविता अर्मूत के प्रश्नों के सहारे आगे बढ़ती है। वस्तुत: ये अर्मूत प्रश्न होते नही है, अर्मूत से दिखते हैं। मूर्तता हमेशा अतीत और वर्तमान में ज्यादा होती है। खासतौर से वर्तमान में। अतीत प्रतीक, वर्तमान बिम्ब और भविष्य संवेदनात्मक कल्पना का प्रमुख रूप से आश्रय ग्रहण करती है। वैसे तो कविता चाहे अतीत के आधार का आश्रय ग्रहण करे या वर्तमान का। वह कल्पना के माध्यम से संवेदना को ग्रहण कराती है। किन्तु भविष्य की कविता में कल्पना-विस्तार के लिए अनन्त संभावना छिपी होती है। अनन्त संभावना केवल काल की व्यापक अवधि के रूप में नहीं है। अपितु संवेदनाओं के व्यापक विस्तार की दृष्टि से भी है। कोई कविता केवल 500 वर्ष या 1000 वर्ष जीवित रहती है तो इसका अर्थ यह नहीं निकाला जाना चाहिए कि वह भविष्य की कविता है। नहीं काल-जीविता हमेशा किसी कविता को भविष्य की कविता नहीं बना देता। भविष्य की कविता 'संज्ञा' नहीं 'विशेषण' है। हर वह कविता जो अपने पाठ को आगे आने वाले समय में अर्थ विस्तार कर सकती है। वह भविष्य की कविता है। महान कृतियाँ इसीलिए हमेशा भविष्य की कविता होती है।

एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि भविष्य की कविता जीवन-समाज को किस प्रकार धारण करती है? या उसकी प्रक्रिया क्या होती है? कविता जब जीवित-समाज को देखती है तो उसका देखना अपने भीतर वैशिष्ट्य लिए हुए होता है। यह वैशिष्ट्य उसकी अपनी दृष्टि से पैदा होती है, जो किसी समाज को उसके मूल रूप में देख सकने की क्षमता से पैदा होती है। समाज को मूल रूप से देख सकने की सामर्थ्य या तो ज्ञानी व्यक्ति के पास होता है या कविता के पास। कविता समाज के उन अवयवों की तलाश करती है, जिनसे किसी समाज के संघटक तत्व बनते हैं। बिना इन तत्वों की संरचना को समझें, कविता दूर तक का सफर तय नहीं कर सकती। यहाँ पर किसी युग की वर्तमान कालिक चेतना अपना महत्वपूर्ण 'पार्ट' अदा करती है। वर्तमान कालिक चेतना की समझ वह आधार-भीतिका है, जो कविता को भविष्य तक की यात्रा कराती है। फिर प्रश्न यह है कि वर्तमानकालिक चेतना की समझ तो सभी यर्थाथवादी रचनाकारों के पास होती है। फिर उनकी कविता भविष्य की कविता क्यों नहीं बन पाती ? इसका निष्कर्ष तो यही निकलता है कि वर्तमानकालिक

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

चेतना किसी रचना को यथार्थवादी तो बनाती है, किन्त दीर्घजीवी बनाये, यह अनिवार्य नहीं। आखिर वह कौन से तत्व होते हैं, जो किसी कविता को भविष्य का पाठ बना देते हैं? जाहिर है भविष्य के पाठ के लिए वर्तमान चेतना का अभाव कारक नहीं है...हाँ वर्तमान का अतिक्रमण अवश्य है।

कविता और काल का सम्बन्ध उसके स्वरूप और प्रकृति को निर्धारित करता है। अतीत की कविता जीवन के प्रति रोमानियत, पुनरूत्थान को लेकर चलती है। ऐसी कविता अतीत के प्रश्नों का हल वर्तमान के लिए पाना चाहती है। कभी-कभी वर्तमान के प्रश्नों का समाधान अतीत में खोजने वाली कविता...। वर्तमान की कविता का बल तात्कालिक प्रश्न, तत्कालीन व्यवस्था...उसकी जड़ता, जैसे प्रश्नों के हल खोजने की कोशिश की जाती है। वर्तमान की कविता वर्तमान के प्रश्नों का हल वर्तमान में खोजती है। अतीत की कविता में वर्तमान के प्रश्न अतीत में खोजे जाते है। जबकि वर्तमान की कविता का मुख्य ध्येय यर्थाथपूर्वक ढंग से जगत-व्यवस्था को मूल्यांकन करना होता है। अतीत की कविता में मुख्यत: समाज की विसंगति को स्थान दिया जाता है तो वर्तमान की कविता में राजनीतिक-व्यवस्थागत विसंगति को/अतीत समाज की असंगति, वर्तमान राजनीतिक विसंगति पर/कविता टिकती है। किन्तु भविष्य की कविता के केन्द्र में जीवन-बोध, जीवन-दर्शन होता है। जीवन की गति को जीवन-बोध से युक्त कर ढालने वाली कविता ही भविष्य की कविता हो सकती है। तो क्या अतीत की कविता या वर्तमान की कविता में दर्शन या जीवन बोध नहीं होता हैं। वस्तुत: भाव तथा भविष्य की कविता आत्मप्रज्ञा प्रधान होती है। दर्शन हमेशा या कहें कि प्राय: भविष्य केन्द्रित होता है...इसीलिए भविष्य की कविता में दर्शन प्रमुख भूमिका में होता है। जिस प्रकार दर्शन में अमूर्तता की प्रबलता होती है। उसी प्रकार भविष्य में भी; इसीलिए भविष्य की कविता दार्शनिक औदात्य से युक्त होगी ही। जिस प्रकार अतीत मिथकप्रधान हो जाता है, वर्तमान इतिहास प्रधान, उसी प्रकार भविष्य दर्शन पर टिकता है। जो भी अतीत हो जायेगा, वह मिथ से युक्त हो जायेगा। अतीत अपने आप में रोमानियत की पहचान कराता है। उसी प्रकार वर्तमान बोध 'इतिहास बोध' का पर्याय बनकर उभरता है। वर्तमान से आगे उत्तर-आधुनिकता में इसीलिए वर्तमान के प्रत्ययों के अंत (इतिहास, कविता साहित्य, लेखक...) की घोषणा कर दी जाती है। उत्तर-आधुनिकता इसीलिए भविष्य का दर्शन है। अत: भविष्य की कविता आधुनिक मापदण्ड-तर्क से आगे की कविता होगी।

क्या भविष्य की कविता में वर्तमान के प्रश्नों से आगे के उत्तर होते है? प्रश्न है क्या यह संभव है? किसी कविता में जुटे संकेत निश्चित रूप से अपने युग की संवेदना से मुख्य रूप से जुड़े होते हैं, लेकिन कई बार ऐसा लगता है, कविता वर्तमान

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

के प्रश्नों का विस्थापन भविष्य में कर देती है। इसीलिए उसके उत्तर भविष्य में प्राप्त होते है। कई बार ऐसा भी होता है कि कविता ऐसे निकष...निष्कर्ष उत्पन्न करती है कि वह वर्तमान की समस्या होते ही नहीं। तुलसी का 'मानस' भविष्य कविता का उत्तम उदाहरण है।

मानस में कई बार 'कलिकाल' का वर्णन आता है। यह 'कलिकाल' वस्तुतः 'भविष्य का काल' है। क्योंकि परम्परागत मान्यता के अनुसार तो महाभारत काल के पश्चात ही कलियुग का प्रारम्भ हो चुका है। तुलसी भी इस तथ्य को जानते हैं। फिर भी उन्होंने मध्यकाल के बीच लिखते हुए कलिकाल को भविष्यकाल के रूप में प्रयोग किया है। दरअसल तुलसी मानवीय संभावना के मूर्तीकरण की प्रक्रिया में वर्तमान की सम्वेदना का विस्तार भविष्य में कर रहे हैं। इसी प्रकार प्रायः क्लासिक कवि वर्तमान के प्रश्नों को विस्तार भविष्य में कर दिया करते हैं।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

दीर्घ और लघु रचनाएँ : सम्वेदों का अन्तर्निहित संयोजन

11.10.2015

(1)

आज एक प्रिय मित्र से 'रचना की माप' और उसकी श्रेष्ठता के विषय पर बातचीत हुई। मित्र ने रचना की श्रेष्ठता को 'औदात्यपूर्ण संयोजन' में निहित माना। मुझे लगा कि उसमें 'रोमानी औदात्य' है। क्या किसी 'रचना की श्रेष्ठता को औदात्यपूर्ण सम्वेग के उद्घाटन' तक सीमित किया जा सकता है? कई रचनाएँ 'अपने सीमित संवेगों' के बावजूद महान बन जाती हैं। ऐसा क्यों? नागार्जुन की 'अकाल और उसके बाद', 'कालिदास सच-सच बतलाना', त्रिलोचन की 'चंपा काले-काले अक्षर नहीं चीन्हती', केदारनाथ अग्रवाल की 'वासंती हवा', 'लोहा'...निराला की 'तोडती पत्थर'...राजेश जोशी की 'हमारे समय के बच्चे'...अज्ञेय की 'सांप' और अन्य कवितायें...या प्रेमचंद की कुछ छोटी कहानियाँ 'पूस की रात', 'सवा सेर गेहूं', 'कफ़न' या अन्य....या अन्य रचनाकारों के रचना-चित्र। इन रचनाओं में कथ्य की विशालता-व्यापकता नहीं है। कई रचनाएँ तो केवल 'सीमित संवेगों' के आधार पर ही रचित हुई हैं...बावजूद वे श्रेष्ठ रचना बनीं। इसीलिए औदात्यपूर्ण कथ्य की मांग हर रचना के लिए उचित नहीं। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि रचना में 'औदात्य का प्रकाश' नहीं होता। होता यह है कि "कुछ रचनाएँ सामान्य कथ्य को ही औदात्यपूर्ण बना देती" हैं। नागार्जुन की प्रसिद्ध कविता 'अकाल और उसके बाद' को लें।कविता में अकाल के कुछ चित्र हैं। अकाल के कुछ दृश्य और कुछ अकाल के बाद के चित्र। कवि ने किसी घटना का संकेत नहीं किया है...कोई जटिल संकेत नहीं रचे हैं...कोई राजनीतिक टिप्पणी नहीं की है...कोई दार्शनिक कथन नहीं किये हैं...कोई नायक नहीं रचा है...कोई प्रतिरोध, संघर्ष नहीं रचा है। कविता में ढेरों 'प्रभावात्मक चित्र' हैं। इन प्रभावात्मक चित्रों को छोटी-छोटी क्रियाओं के माध्यम से संयोजित किया गया है। दिखने में, कहने में कविता में कोई औदात्य नहीं है, किन्तु कविता फिर भी

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

बड़ा वितान रचती है। अकाल पर लिखी गयी श्रेष्ठ कविता...अपने सीमित कलेवर में। चूंकि रचना का विधान छोटी कविता का था, इसलिए स्वाभाविक था कि इसमें क्रिया-प्रतिक्रिया द्वंद्व का अभाव होता। प्रत्येक रचना अपने नियम-अनुशासन का वितान रचती ही है। कई कवितायें एक 'संवेग की माप' के उद्‌घाटन में भी महत्वपूर्ण हो जाती हैं। अज्ञेय की 'सांप' या केदारनाथ अग्रवाल की 'लोहा' कविता का सन्दर्भ लें। इन कविताओं में एक 'संवेदित-कथ्य' है। आप चाहें तो इसे विचार कह लें, किन्तु यह 'विचार' या 'संवेग' अपनी पूरी प्रक्रिया में रचित नहीं हुआ है; अपितु एक मनोभाव में ही दृश्यित हुआ है, बावजूद ये कवियायें महत्वपूर्ण बन गयी हैं।

(2)

प्रश्न है कि किसी मनोभाव, संवेग के आधार पर रचित रचना और किसी संवेग के सम्पूर्ण [?] क्रिया-दृश्य-प्रति दृश्य को समेट कर रची गयी रचना में क्या अंतर होता है? क्या यह 'कथ्य के अनुरूप का संयोजन-मात्र' है? या रचना की श्रेष्ठता के निर्धारण की प्रक्रिया में कथ्य की माप, रचना की लम्बाई भी अपना विशेष अर्थ रखती है? और चूंकि वे अपना विशेष अर्थ रखती हैं, इसलिए वे महत्वपूर्ण रचना के निर्माण में उपयोगी/ निर्णायक भूमिका निभाती हैं। कई बार...बहुधा रचना की लम्बाई को 'महाकाव्यात्मक' रूप में देखा जाता है। निराला की कविताओं में 'राम की शक्तिपूजा', 'सरोज स्मृति', 'तुलसीदास'...जैसी कविताओं में महाकाव्यात्मक औदात्य देखा गया है। महाकाव्य या लम्बी कविता या बृहत् उपन्यास को जिस भव्य ढंग से स्मरण किया जाता है, उसी प्रकार छोटी रचनाओं को नहीं। हालांकि आज जब 'महाख्यान के 'अन्त की घोषणा' भी हो चुकी है...तब भी लम्बे कथारूप, कथ्य के उद्‌घाटन में विशेष प्रभाव निर्मित करते रहे हैं। इस प्रभाव का कारण क्या यह समझा जाए कि इस प्रकार की रचनाएँ किसी 'मनोभाव के 'पार्श्व और प्रक्रिया', 'प्रक्रिया और प्रभाव' को एक साथ हमारे सामने रखती हैं? ऊपर हमने 'प्रभावात्मक रचना' का संकेत किया है। छोटी रचनाओं में एक 'प्रभावात्मक नियोजन' होता है, यह तो हम जानते हैं। 'पूस की रात' में घटना के नाम पर आप कितनी घटनाओं का उल्लेख करेंगे। यह भी विचित्र संयोग है कि जब 'महाख्यान के अंत' की घोषणा हो रही थी, तब हिंदी में उदयप्रकाश अपनी लम्बी कहानियों का शिल्प-वितान रच रहे होते हैं...और बाद के दिनों में यह कहानी का एक प्रचलित शिल्प-विधान बनता गया। यो यह द्वंद्व क्या 'प्रभाव' और 'प्रक्रिया' के रूप में हमारे सामने आता है? क्या 'कथ्य की अनुमाप की प्रक्रिया' में 'प्रभाव' और 'प्रक्रिया' स्वयमेव रचित हो उठते है या यह सायास घटित प्रक्रिया है? या किसी ख़ास प्रकार

CC-OAgamnigam Digital Preservation
Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
के कथ्य पर आधारित रचना 'प्रभावात्मक आग्रह' से युक्त होती है या 'प्रक्रिया के आग्रह' से युक्त होती है?

(3)

क्या 'कथ्य की अनुमाप की प्रक्रिया' में 'प्रभाव' और 'प्रक्रिया' स्वयमेव रचित हो उठते है या यह सायास घटित प्रक्रिया है? या किसी ख़ास प्रकार के कथ्य पर आधारित रचना 'प्रभावात्मक आग्रह' से युक्त होती है या 'प्रक्रिया के आग्रह' से युक्त होती है? निश्चित रूप से कथ्य किसी रचना को प्रभावात्मक आधार या प्रक्रियात्मक आधार प्रदान करता है, किन्तु कथ्य अपने आप में इसका नियंता नहीं है। कथ्य की अपनी पूरी संरचना इसकी नियामक है। महत्वपूर्ण बात यह है कि कथ्य की व्यंजना क्या है? कथ्य की व्यंजना ही उसके आनुसंगिक अवयव निर्धारित करती है...और उसे एक आंतरिक संरचना प्रदान करती है। इस प्रकार कथ्य की आंतरिक संरचना ही उसे 'प्रभावात्मक आग्रह' और 'प्रक्रियात्मक आग्रह' प्रदान करता है। मसलन प्रेम पर महाकाव्यात्मक उपन्यास भी लिखा जा सकता है और छोटी प्रेम कविता भी। प्रश्न कथ्य मात्र का नहीं है; प्रश्न यह है कि कथ्य की आंतरिक संरचना किन आधार और पद्धतियों पर निर्मित हो रही है? यदि कोई कथ्य केवल अपने प्रभाव को चित्रित करना चाह रहा है तो वह छोटी रचनाओं की ओर जाएगा [सामान्यत :]। हालांकि बड़ी रचनाओं में भी 'प्रभावात्मक आग्रह' रहता ही है। स्मरण करें कि 'रामायण' में वाल्मीकि के रचना-विधान को या उसके कुछ अंशों को 'प्रभावात्मक' कहा गया है, किन्तु यह विधान सम्पूर्ण रचना का नहीं है। 'प्रभावात्मक रचना' अपने मूल में संक्षिप्त कलेवर की ही होती है। यही कारण है कि स्तुति रूप में संक्षिप्तता होती है।

दीर्घ/ बड़ी रचनाओं में 'प्रभाव' की अपेक्षा 'प्रक्रिया' का विधान नियोजित किया जाता है। किसी घटना के होने-घटने के कारणों की तलाश...किसी कथ्य के बनने की नियामक शक्तियों की पहचान का प्रश्न या ऐतिहासिक गतियों की पहचान के श्रोतों की तलाश...यानी 'प्रक्रिया' का सूक्ष्म विधान। इस प्रकार ये रचनाएँ प्रक्रियामूलक, क्रियामूलक होती हैं। इनका प्रभाव 'क्रिया का अनुवर्ती' होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे छोटी रचनाओं की क्रिया 'प्रभाव की अनुवर्ती'। प्रक्रिया और प्रभाव के इस द्वैत में केवल रचना-विधान, रचना-विधा, कथ्य की संयोजना, आंतरिक संरचना ही नहीं गठित होती, अपितु पूरा सामाजिक परिवेश भी निर्मित होता है। प्रश्न है कि ऐसा क्यों होता है? रचना-विधान और परिवेश के गठन में अंतर्सूत्रता किस प्रकार निर्मित होती है? रचना-विधान परिवेश के सूक्ष्म रूप हैं, सूत्रात्मक रूप हैं। एक रचनाकार अपने रचना-वितान को परिवेशीय धरातल के

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आलोक में ही नियोजित करता है। एक परिवेश बड़े इत्मीनान से...परोक्ष रूप से उसकी रचना को बनाता है, नियंत्रित करता है...उसे अनुशासित करता है। रूसी साहित्य में वहाँ का समाज झांकेगा, चीनी साहित्य में वहाँ का समाज...या किसी भी साहित्य में वहाँ का समाज उपस्थित रहेगा...किन्तु यह झांकना, उपस्थिति मात्र समाजशास्त्रीय यथार्थ तक सीमित नहीं है, अपितु वह रचना-विधान की आंतरिक निर्मिति में भी अहम् भूमिका अदा करता है। हमने एक लेख में लिखा था कि रूसी साहित्यकार अपने पात्रों को जिस तरह उनकी पूरी शारीरिक संरचना में प्रस्तुत करते हैं, वह उन्हें एक वैशिष्ट्य प्रदान करता है...और यह शैली-मात्र का प्रश्न भी नहीं है। यह सांस्कृतिक प्रश्न है। सामाजिक-सांस्कृतिक प्रश्न ही धीरे-धीरे रचना में अभिविन्यस्त हो जाता है। इस अभिविन्यस्तीकरण की प्रक्रिया में रचना-रूप के विभिन्न रूप प्रकट होते हैं। एक तरह से रचना-रूप सामाजिक मनोभाव के विभिन्न शेड्स हैं, जो रचनाकार के माध्यम से अस्तित्व ग्रहण करते हैं। किसी रचना-विधा का प्रारम्भकर्त्ता इसीलिए रचनाकार नहीं बनता, अपितु एक सामाजिक-परंपरा बनती है। रचनाकार यहाँ एक माध्यम की भूमिका में ही प्रकट होता है, किन्तु भ्रमवश कुछ लोग रचनाकार के वैयक्तिक प्रयोगों के आधार पर उसे रचना-विधा का पुरस्कर्त्ता घोषित कर देते हैं।

(4)

प्रश्न है कि दीर्घ और लघु रचनाओं की रचना-प्रक्रिया में क्या अंतर होता है? या उनकी रचना-पद्धति किन प्रक्रियाओं से होकर गुजरती है? यह तो तय है कि दीर्घ और लघु रचनाओं की रचना-पद्धति एक समान संचरणशील नहीं हो सकती। हालांकि कुछ लोग रचना में एक रचना-प्रक्रिया होने की बात स्वीकारते हैं, किन्तु हमारा इस मत में विश्वास नहीं है। एक कविता और एक उपन्यास एक जैसे रचना-प्रेरणा से भले ही रचित होता हो, किन्तु उनकी रचना-प्रक्रिया एक जैसी नहीं हो सकती। यह तो गद्य और पद्य के रचना-अनुशासन [विधा] की बात है। हम तो एक ही विधा के बीच विभिन्न रचना-पद्धतियों की बात कर रहे हैं। दीर्घ रचना और लघु रचनाओं के बीच जब एक समान रचना-पद्धति निर्मित नहीं हो पाती, तब उन कारणों को समझना आवश्यक हो जाता है, जो इस वैभिन्न के कारक होते हैं। यहाँ संक्षेप में एक स्थूल बात समझने की है कि रचना-प्रक्रिया और रचना-पद्धति में भिन्नता होती है। दो भिन्न रचना-अनुशासन की रचना-प्रक्रिया समान हो सकती है, किन्तु उनकी रचना-पद्धति भिन्न ही होती है। वस्तुतः रचना-प्रक्रिया किसी रचना की निर्मिति के बाह्य घटक भले न हों, किन्तु वे थोड़े बाह्य प्रभाव से संयुक्त होते ही हैं; किन्तु रचना-पद्धति हर रचना की आतंरिक व्यवस्था है, आतंरिक संयोजन है।

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

यहाँ पर दीर्घ एवं लघु रचनाओं की रचना-प्रक्रिया एवं पद्धति के सम्बन्ध में गहराईपूर्वक विचार किये जाने की आवश्यकता है। एक लघु रचना सबसे पहले एक प्रभाव या बिम्ब के रूप में घटित होती है, संयोजित होती है। लघु रचनाएँ केवल अनुभूतिगम्य हों या केवल तात्कालिक अनुभव से ही उपजें, यह आवश्यक नहीं। हाँ यह तो तय है कि कोई बिम्ब या प्रभाव पूर्व के अनुभूति-संसार का ही विस्तार होते हैं, इसलिए उनकी सत्ता के अस्वीकार का प्रश्न यहाँ नहीं है। हम तो यह कह रहे हैं कि तात्कालिक अनुभव की आवश्यकता जिस प्रकार दीर्घ रचनाओं में होती है, उसी प्रकार लघु रचनाओं में नहीं होती। लघु रचनाएँ पूर्व के सामाजिक अनुभव का ही वर्तमान बिम्बन-रूप होती हैं। उनमें एक टकटकापन होता है, इसलिए कि वे पूर्व के विचार, अनुभव को नवीन ढंग से संयोजित करती हैं। यह संयोजन एक प्रभाव या बिम्ब के रूप में आता है, इसलिए ज्यादा मौलिक होता है। घटनाएँ यहाँ कम-से-कम हैं...विवरण कम-से-कम हैं। अत: स्थूलता कम-से-कम है। फलत: मौलिकता ज्यादा है। विवरण, घटनाएँ कितनी ही नवीन क्यों न रची जाएँ, उनकी रचना-प्रक्रिया में स्थूलता का आ जाना स्वाभाविक ही है।

लघु रचनाओं की रचना-प्रक्रिया का दूसरा चरण बिम्ब के कथ्य में ढलने का है। इस प्रक्रिया में रचनाकार अमूर्त से मूर्त की ओर जाता है, किन्तु एक संकेतात्मक मुद्रा या भंगिमा के साथ। विभिन्न प्रकार के मनोभावों-भंगिमाओं में वह अपने मूल बिम्ब या प्रभाव को विस्तारित कर देता है। इसीलिए हर पंक्ति पिछली पंक्ति का सीधा विस्तार नहीं लगती, हालांकि वह अपने केन्द्रीय वृत्त का ही विस्तार होती हैं, बावजूद...। लघु रचनाओं का अगला चरण विभिन्न मनोभावों-भंगिमाओं को एक व्यंजित रूप देने या जोड़ने का होता है। इस प्रक्रिया में रचनाकार सम्पूर्ण रचना को एक अंतर्सूत्र प्रदान करता है और रचना स्वयम एक व्यंजना बन जाती है। किन्तु दीर्घ रचनाओं में यही प्रक्रिया इसी क्रम से नहीं आतीं। एक दीर्घ/ बड़ी रचना में कोई 'अनुभव' एक प्रस्थान होता है। यह अनुभव सामाजिक सत्य की प्राप्ति का ही प्रतिरूप है। किन्तु कोई रचना सत्य प्राप्ति/अनुभव मात्र से ही आगे नहीं बढ़ जाती। जब तक यह अनुभव उसके आंतरिक जगत को संयोजित नहीं कर लेता [मुक्तिबोध इसे बाध्य हो जाना कहते हैं...], तब तक रचनाकार के लिए यह 'सामाजिक अनुभव' स्थूल-रूप में ही होता है। कहने का अर्थ यह है कि उसका 'अनुभव' नये संयोजन के बीच पृथक् रूप ग्रहण कर लेता है। वह अब पार्श्व रूप में आ जाता है। ध्यान रहे कि लघु रचनाओं में उसका अनुभव/ प्रभाव/ बिम्ब सम्पूर्ण रचना के केंद्र में होता है, किन्तु दीर्घ रचना में उसका अनुभव नए अनुभव को उत्पन्न करके पीछे हो जाता है [गायब नहीं हो जाता...]...। यानी रचना-प्रक्रिया के स्तर पर लघु एवं दीर्घ दोनों प्रकार की रचनाओं में एक 'अनुभव' होता है, किन्तु दोनों की पद्धति में

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अंतर आ जाता है। लघु रचनाओं में 'अनुभव का केन्द्रण' होता है, जबकि दीर्घ रचनाओं में 'अनुभव का विस्थापन'। रचना-प्रक्रिया के दूसरे चरण में दीर्घ रचनाएँ अपने संयोजित अनुभव को विभिन्न कथ्य-घटनाओं में प्रसरित करती हैं। इस प्रकार लघु एवं दीर्घ रचना में यह प्रक्रिया एक जैसी लगती है, किन्तु उनकी पद्धति में अंतर है। दीर्घ रचना में मूर्तता को संकेतात्मक रूप में कहने की बाध्यता नहीं रहती। इस प्रकार की रचनाओं में घटनाओं के विभिन्न दांवपेंच, जटिलता होती है। दीर्घ रचनाएँ अपनी 'प्रक्रियामूलक निष्पत्ति' को हमेशा केंद्र में रख कर चलती हैं। किसी कथ्य के बनने की प्रक्रिया, कथ्य-घटना के बीच के अंर्तसूत्र की प्रक्रिया...या किसी मनोभाव या विचार के एक सूत्रीकरण की प्रक्रिया...। हाँ लघु रचना में प्रभाव रचना के बनने की प्रक्रिया के बीच भी चलता रहता है, जबकि दीर्घ रचनाओं में प्रभाव 'क्रिया का अनुवर्ती' बनकर ही हमारे सामने आता है। चूंकि लघु रचना में एक मनोभाव की एकदेशीयता होती है, इसलिए उसमें दीर्घ रचनाओं की अपेक्षा सघनता ज्यादा.होती है। यह सघनता रचना-प्रक्रिया के संयोजन को भी प्रभावित करता है। सघन रचनाएँ रचना-प्रक्रिया के स्तर पर ज्यादा श्रम-साध्य होती हैं। उनमें अनुभूतियों की जटिलता ज्यादा होती है। दीर्घ रचनाओं में परिस्थितियों की जटिलता ज्यादा होती है, जबकि लघु रचनाओं में मनोभावों की। यह विचित्र अंतर्विरोध-सा लगता है कि अपेक्षाकृत संक्षिप्त, सपाट रचना में मनोभावों की जटिलता ज्यादा होती है। कम शब्दों में एक व्यापक जीवन-स्पंदनों को अभिव्यक्त करने के लिए रचनाकार का व्यापक जटिल जीवन-चक्रों से मुठभेड़ करना और फिर उसे प्रभावात्मक रूप में चित्रित करना....यह अपेक्षाकृत कठिन कार्य है, कठिन रचना-प्रक्रिया है। दीर्घ रचनाओं में जटिल परिस्थितियों के लिए जीवन के घात-प्रतिघात, जटिल जीवन-चक्रों को रखने का रचनागत स्पेस रचनाकार के पास रहता है। इसलिए वह मनोभावों को घटना-चक्रों में विन्यस्त करता है। लघु रचनाएँ जटिल जीवन चक्रों को घटना की अपेक्षा मनोभावों में विन्यस्त करती हैं। यही रचना-पद्धति लघु एवं दीर्घ रचनाओं को एक भिन्न भंगिमा प्रदान करता है।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अपराध कथाओं का आख्यान

25.10.2015

(1)

मनुष्य का सामान्य जीवन समाज द्वारा तय किये गए स्थिर मानदंडों के आधार पर चला करता है। यानी क़ानून, पुलिस, न्यायालय, समाज द्वारा तय किये गए स्थिर मापदंड हैं। इन सब के अनुकरण के माध्यम से एक सामान्य व्यक्तित्व अपना 'सामान्य जीवन' यापन करता है। इस दृष्टि से क़ानूनी और नैतिक दृष्टि से स्थिर किये गए मापदंड के विरुद्ध आचरण करना 'अपराध' कहा जाता है। किन्तु अपराध कहने मात्र से ही किसी बड़े अनैतिक कर्म (हत्या, बलात्कार इत्यादि...) का संकेत होता है। एक ऐसा कर्म जो किसी के जीवन तथा अस्मिता को ख़तरे में डाल दे या डालने का प्रयास करे, वह आपराधिक कृत्य कहा जा सकता है। अपराध और उसके दंड का विधान भारत तथा दूसरे देशों में प्राचीन काल से चला आ रहा है। हाँ यह अलग बात है कि सामंती पद्धति में कई बार वीरता और अपराध एक उत्सवधर्मी प्रतीक के रूप में परिभाषित किये जाते रहे हैं। आधुनिक काल के आगमन ने न्यायालय, क़ानून के हस्तक्षेप से वीरता जैसे मनोभाव को सात्विक कर्म के साथ ही क़ानूनी दायरा भी प्रदान कर दिया। प्रश्न है कि अपराध और वीरता जैसे मनोभावों की निकटता क्या है? दोनों मनोभावों में आवेगात्मक आग्रह होता ही है, किन्तु दोनों की संरचना व गुणधर्म में फ़र्क होता है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से वीरता का स्थायी भाव उत्साह होता है, तो अपराध के मूल में क्रोध/रौद्र तथा घृणा/जुगुप्सा वीभत्स रस में परिणत होता है। इस प्रकार वीरता घनात्मक मनोविकार तथा घृणा नकारात्मक मनोविकार हो जाता है। चूंकि नकारात्मक मनोविकारों में आवेग ज़्यादा होता है, इसलिए भी अपराध जैसे मनोभाव क्रोध तथा घृणा जैसे स्थायीभावों के सम्मिलन से फ़लीभूत होता है। यानी अपराध के मूल में घृणा भी होती है और क्रोध भी। केवल क्रोध करके हम अपराध तक नहीं पहुँच पाते हैं। इसीलिए क्रोध को घृणा का सहयोग लेना पड़ता है। यानी क्रोध तभी फ़लीभूत होता है, जब उसमें घृणा सम्मिलित हो जाती है। अर्थात् क्रोध की तात्कालिकता को घृणा जैसे बद्ध, जड़ या

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

स्थायी मनोविकारों का जब साथ मिलता है, तब व्यक्ति अपराध की ओर मुड़ता है। इस प्रकार अपराध एक तात्कालिक मनोविकार से आगे जाकर "स्थायी घृणा का तात्कालिक क्रोध" की परिणति के रूप में हमारे सामने प्रकट होता है। पूर्व में कहा गया कि अपराध जैसे शब्दों की सैद्धांतिकी न्यायालय और क़ानून से सम्बन्ध रखते हैं। यानी अपराध एक 'वस्तुनिष्ठ' इकाई है। एक विशेष कर्म अपराध की श्रेणी में है। सामंतवाद में 'कर्म' की बजाय 'व्यक्ति के कर्म' को केन्द्रीयता प्राप्त होती थी। 'महाभारत' में आए आख्यान से हम देखते हैं कि दंड/सज़ा का प्रावधान जाति-वर्ण केंद्रित था। निश्चित रूप से आज की अपराध अवधारणा ज़्यादा वस्तुनिष्ठ है। क़ानून-न्यायालय की नियमावली वस्तुनिष्ठ है...हाँ उनमें यदि कोई भेद है तो परिस्थितियों और व्यक्ति की मनोदशाओं की भिन्नता का। ज़ाहिर है परिस्थिति और व्यक्ति की मनोदशा की भिन्नता के कारण ही "अपराध साहित्य" का सृजन होता है। यदि हम केवल अपराध कहते हैं तो वह न्यायालय का क्षेत्र हो जाता है, किन्तु यदि हम जैसे ही परिस्थिति और व्यक्ति की मनोदशा शब्द का प्रयोग करते हैं, मानविकी और साहित्य का विषय हो जाता है। साहित्य घटना (अपराध) से ज़्यादा उसके पूर्व और पश्चात यानी पार्श्व और प्रभाव के चित्रण में संयोजित-निर्मित होता है। किसी साहित्य का उद्देश्य किसी घटना का वर्णन करना भर नहीं होता...घटना उसके लिए बहाना मात्र होते हैं। वह घटना के परिवेश-परिस्थिति और उस घटना का समाज की सापेक्षता में व्यक्ति पर पड़ रहे प्रभाव का अध्ययन करता है। यही संरचना 'अपराध साहित्य' के केंद्र में भी होती है। दोस्तोवस्की के प्रसिद्ध उपन्यास 'अपराध और दंड' (क्राइम एंड पनिसमेंट) में एक छोटी सी घटना नायक द्वारा वृद्धा की अनचाही हत्या है। किन्तु पूरा उपन्यास इस घटना के बहाने उस पूरे समाज की सभ्यता (पुलिस-न्यायालय, आर्थिक संरचना, व्यक्ति का आर्थिक-सामाजिक जीवन, मनोदशा...) को टटोलने पर केंद्रित हो जाता है। कुछ पृष्ठों में सिमटी यह घटना (हत्या या अपराध) अपने सभ्यता समीक्षा में 500-600 पृष्ठों के बृहद्काय उपन्यास में तब्दील हो जाती है। यहाँ प्रश्न यह नहीं है कि नायक से अपराध हो गया है, अपितु मुख्य प्रश्न यह हो जाता है कि वह/नायक किन परिस्थितियों में उस कृत्य (अपराध) तक जाता है...तथा उसके पश्चात उस कृत्य का प्रभाव स्वयं नायक और समाज पर किस रूप में पड़ता है? किन्तु इन सब से ज़्यादा लेखक का उद्देश्य इस तथ्य की ओर ईशारा करना है कि जिन परिस्थितियों में कोई व्यक्ति अपराध करता है, उन परिस्थितियों की निर्माणकर्त्ता संस्थाएँ कौन सी हैं? एक तरह से पूरा उपन्यास अपराध को बनाने वाले सभ्यता के आधुनिक ढांचे को कटघरे में खड़ा करता है। यहाँ उपन्यास का नायक अपराध करके भी अपराधी नहीं रह जाता। स्वयं उपन्यासकार ने उसे इतनी सहानुभूति दी है कि प्रश्नों के घेरे /कटघरे में पूरा क़ानूनी तंत्र और

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

समाज की सभ्यता-प्रणाली आ जाती है। निश्चित रूप से यह ''साहित्य-न्याय'' है, जिसे बहुत पहले शाब्दिक धरातल पर आचार्य भामह ने ''काव्य-न्याय'' कहकर परिभाषित किया था। एक दूसरा सन्दर्भ लें। गोर्की के प्रसिद्ध उपन्यास 'वे तीन' का एक नायक पैसे के लालच में एक वृद्ध व्यक्ति की हत्या करता है। उस व्यक्ति का आगे का पूरा जीवन उस अपराध की छाया में बीतता है। क़ानून की दृष्टि में निश्चित रूप से यह कृत्य अपराध है, किन्तु उपन्यासकार की दृष्टि में आपराधिक वह परिस्थितियाँ हैं, जिनमें वह व्यक्ति अपराध की ओर प्रवृत्त होता है। क्या यह संयोग मात्र है कि दस्तोवस्की और गोर्की दोनों, हत्या होने वाले पात्र को वृद्ध-वृद्धा के रूप में चित्रित करते हैं? एक ऐसे पात्र के रूप में जिनके पास उनकी ज़रूरत के हिसाब से ज़्यादा संपत्ति है और वे समाज की गति में अपना योग देने की भूमिका से वे कट चुके हैं? क्या प्रकारांतर से हम 'अपराध और दंड' के वृद्धा और 'वे तीन' के वृद्ध को उस ''समाज की छ्यग्रस्त संरचना का प्रतीक'' समझें, जो निरर्थक और अनुपयोगी हो चुकी है? आप चाहें तो इस प्रकार की व्याख्या भी कर सकते हैं। यहाँ हमारे कहने का अर्थ यह है कि साहित्य में आकर अपराध का स्वरूप वही नहीं रह जाता, जो वास्तविक जीवन या क़ानून की दृष्टि में होता है। क़ानून जिस व्यक्ति को बड़े सामान्य ढंग से अपराधी घोषित कर देता है, साहित्य में वही पात्र करुणा या सहानुभूति का पात्र बन जाता है।

(2)

प्रश्न है कि साहित्य में अपराध तत्वों या अपराध साहित्य की प्रचुरता किन परिस्थितियों में होती है? क्या अपराध साहित्य निर्मित होने की कुछ ख़ास वजह या परिस्थितियाँ होती हैं? हिंदी उपन्यास साहित्य की रचना तब हुई थी, जब हिंदी कथा साहित्य या उपन्यास साहित्य अपने निर्माण की प्रक्रिया से गुज़र रहा था। अपराध या जासूसी कथा के मूल में व्यक्ति की भय और आश्चर्य की मनोवृत्ति क्रियाशील होती हैं। पाठक किसी होनी-अनहोनी, अप्रत्याशित घटना की आशंका में अपराध साहित्य पढता चलता है। इस प्रकार अपराध साहित्य में घटना-हत्या से ज़्यादा महत्वपूर्ण होता है, उस 'घटना की प्रक्रिया'। अपराध कथाएँ इस प्रकार 'घटना की प्रक्रिया को मनुष्य मन के अंतर्जगत में प्रवेश' करके पकड़ने का प्रयास करती हैं। अपराध साहित्य का केंद्र इसीलिए 'मनुष्य मन की अवचेतन वृत्ति' तक जाना होता है। कोई घटना किन पात्रों के माध्यम से घट रही है, इस बात का सूक्ष्म अध्ययन लेखक के लिए अपरिहार्य है। इस प्रकार अपराध साहित्य का लेखक मनोविज्ञान के अवचेतन रूप का आश्रय ज़्यादा लेता है। वैसे तो साहित्य की आधार-भूमि मनोविज्ञान या

CC-OAgamnigam Digital Preservation
Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मनुष्य का मन होता ही है; किन्तु परिष्कृत साहित्य और अपराध साहित्य के बीच मुख्य भेद यह होता है कि जहाँ परिष्कृत साहिय में लेखक मन की कल्पना शक्ति, सौन्दर्य बोध तथा आवेगात्मक भावों को प्रश्रय देता है, वहीं अपराध साहित्य में लेखक 'मन की आंतरिक वृत्तियों के संयोजन' को आधार बनाता है। एक का मनोविज्ञान आश्रय 'व्यक्तित्व के ऊर्जस्वित तत्वों' को लिए हुए होता है तो दूसरे का मनोविज्ञान 'व्यक्तित्व के आंतरिक-जटिल तंतुओं' को लिए हुए। यही कारण है कि प्राय: अपराध साहित्य का प्रारम्भ किसी विधा के आरंभिक चरणों में होता है। दरअसल जिस प्रकार अपराध व्यक्ति के अविकसित मन की ग्रंथि है,उसी प्रकार अपराध साहित्य समाज के अपरिपक्व होने का सूचक। इसमें किसी घटना को उसके कौतूहल पूर्ण पक्ष या ढंग से देखने का प्रयास किया जाता है। वैसे तो आश्चर्य, अद्‌भुत को हमारे यहाँ (काव्यशास्त्र) स्वीकारात्मक मनोभाव या घनात्मक मनोभाव के रूप में रखकर देखने का प्रचलन रहा है, किन्तु अपराध साहित्य में अद्‌भुत रस को भय, जुगुप्सा व घृणा जैसे मनोवेगों की सापेक्षता में या सन्दर्भ में देखा जाता है।

परिष्कृत साहित्य के सन्दर्भ में बात करें तो अपराध साहित्य का लेखन साहित्य की निर्माण प्रक्रिया के समय प्रमुखता से होता रहा है। किन्तु लोकप्रिय साहित्य या मॉस साहित्य या पटरी साहित्य के भीतर अपराध साहित्य हमेशा लिखा पढ़ा जाता है। कई बार 'वर्दी वाला गुंडा' या इस प्रकार के उपन्यासों की बिक्री रिकॉर्ड तोड़ देती है। इस प्रकार के साहित्य का लेखन हमेशा ही चलता रहता है। पटरी पर बिकने वाले सस्ते अपराध साहित्य के अतिरिक्त 'सच्ची कहानियाँ', 'मनोहर कहानियाँ' या अपराध कथा के कॉलम से सजी ढेरों पत्रिकाएँ प्रति माह निकलती-बिकती हैं। इस प्रकार के अपराध साहित्य का पाठक निम्न वर्ग या निम्न मध्यम वर्ग के व्यक्ति हुआ करते हैं। इस प्रकार के अपराध साहित्य का उद्देश्य प्राय: जनता की मूल मनोवृत्तियों यथा सेक्स की दमित भावना और उसके भीतर के गुस्से-कुंठा को उभारना होता है। चूंकि इस प्रकार के साहित्य का लक्ष्य समाज का परिष्कार करना या व्यक्तित्व निर्माण करना नहीं होता, इसलिए भी साहित्यिक विकास गति से इस प्रकार के अपराध साहित्य का कोई तारतम्य विकसित नहीं हो पाता। इस प्रकार का अपराध साहित्य 'साहित्यिक विकास क्रम' पर नहीं बल्कि समाज की बदलती अभिरुचियों, समाज के भौतिक ढांचे में आए परिवर्तनों पर निर्भर करता है।

(3)

अपराध कथा/साहित्य की संरचना दूसरे प्रकार की विषयवस्तु वाले साहित्य से इस ढंग से भिन्न होती है कि इसमें कथा का प्रारम्भ तब शुरू होता है, जब कोई

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
घटना घटने वाली हो या घट चुकी हो। इस प्रकार अपराध को केंद्र में रखकर लिखा गया साहित्य वस्तुत: उस घटना/अपराध के प्रभाव...उसकी ख़ोज-बीन तथा अपराधी तक पहुँचने की कथा बनती है। दूसरे ढंग से कहें तो यह कि अपराध साहित्य में अतीत की घटनाओं को वर्तमान में सुलझाने का प्रयत्न किया जाता है। दूसरे विषयवस्तु के साहित्य में वर्तमान में घट रही घटनाओं को केन्द्रीयता प्राप्त होती है। सम्पूर्ण कथाचक्र वर्तमान केंद्रित होता है। कहानी भले ही फ़्लैशबैक टेकनीक में चले या अतीत की घटनाओं पर आधारित हो, किन्तु लेखक उद्देश्य वर्तमान के लिए उन घटनाओं का सन्दर्भण होता है।

अपराध कथा और जासूसी कथाओं की संरचना में अतीत का विस्तार वर्तमान में दिखाया जाता है। इस प्रकार वर्तमान का विस्तार अतीत में होने और अतीत का विस्तार वर्तमान में होने की प्रक्रिया के बीच सामान्य विषय वस्तु और अपराध कथा की संरचना निर्मित होती है। अपराध कथाओं के सन्दर्भ में कालगत समझ इसलिए भी आवश्यक है, क्योंकि इसी बहाने हम उसके मनोविज्ञान को गहरे रूप में समझ सकते हैं। किसी ख़ास क्षण के बीच घटित अपराध का विस्तार जब साहित्य करता है, तो निश्चित रूप से वह इसके लिए सामाजिक-सांस्कृतिक-न्यायिक-नैतिक-ऐतिहासिक-भौगोलिक परिस्थितियों का आधार निर्मित करता है। यानी सम्पूर्ण वृत्त उस 'ख़ास क्षण' के लिए,जिसमें अपराध की घटना घट रही है, रचित होती हैं। एक प्रकार से यह एक "समाज शास्त्रीय विश्लेषण" का आधार प्रस्तुत करता साहित्य है। हालाँकि इस प्रकार का प्रयास मुख्यधारा में न आ सका।

अपराध साहित्य के पात्र क्या दूसरे प्रकार के साहित्य से भिन्न मनोवृत्ति के होते हैं? क्या अपराध साहित्य के पात्रों को अन्य प्रकार के साहित्य के पात्रों से भिन्न पद्धति पर विकसित किया जाता है? दरअसल कथ्य और पात्र निर्माण का गहरा सम्बन्ध होता है। कथ्य का स्वयं का सम्बन्ध जीवन और समाज से है। किसी समाज की अपनी संरचना एक विशेष प्रकार के जीवन के लिए मुफ़ीद या बाधक हो जाती है। ज़ाहिर है कि अपराधी किस्म के पात्र एक विशेष जीवन-दशाओं के परिणाम होते हैं। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि एक विशेष प्रकार की असंतुष्टि यथा प्रेम का अभाव, असुरक्षा, ग़रीबी-अतृप्ति, वर्चस्व की भावना...व्यक्ति को अपराध की ओर ले जाती है। प्रश्न है कि क्या उपरोक्त तत्वों के अभाव में व्यक्ति अपराध की ओर मुड़ जाता है? निश्चित् रूप से सभी तत्वों के एक साथ अभाव से व्यक्ति विश्रृंखलित हो जाता है। ऐसी स्थिति-परिस्थिति या मन:स्थिति में वह अपराध कर बैठता है। यानी अशिक्षा, ग़रीबी, प्रेम का अभाव...जैसे तत्व आधारभूत रूप में तो होते ही हैं...किन्तु इन सब के संयोजन के पश्चात एक विशेष क्षण,परिस्थिति या मन:स्थिति में व्यक्ति का नियंत्रण विवेक पर से हट जाता है। उचित-अनुचित ज्ञान

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

तो एक बालक के पास भी होता है, किन्तु अपराधी व्यक्ति अपने अनुचित कर्म के लिए भी तर्क ख़ोज लेता है। एक प्रकार से वह अपने कर्म का औचित्य तलाश लेता है। एक प्रकार से समाज के किन्हीं अंतर्विरोध की प्रतिक्रियास्वरूप अपराधी का जन्म होता है। प्रश्न है कि क्या अपराधी ''समाज के अंतर्विरोध की प्रतिक्रिया'' होता है? निश्चित रूप से अपराधी चरित्र समाज के अंतर्विरोधों की ही देन होते हैं। एक पूर्व से चल रहे विसंगतिपूर्ण कार्यों की प्रतिक्रियास्वरूप वह अपने कर्म में औचित्य तलाशने का कार्य करता है। सामान्य जीवन में इस प्रकार के पात्र 'बहिर्मुखी प्रकृति' के होते हैं, किन्तु साहित्य में इनका चित्रण बेहद 'अंतर्मुखी धरातल' पर किया जाता है। साहित्य में इस प्रकार के पात्र बाहर से बेहद शांत (किन्तु भीतर से अशांत) दिखते हैं। यानी सामान्य जगत के अपराधी और साहित्य जगत के अपराधियों का बाह्य बर्ताव भिन्न किस्म का होता है। प्रश्न किया जा सकता है कि साहित्य में अपराधियों का चित्रण एक 'विशेष पद्धति' पर क्यों निर्मित किया जाता है? क्या इसका कारण यह है कि इस प्रकार के अपराधी पात्रों को उनकी जटिलता के साथ चित्रित करने के लिए, जिसमें समाज की जटिलता भी सामने आ जाए, व्यक्ति (पात्र) को अन्तर्मुख रूप में दिखाना चित्रणगत मज़बूरी है? आख़िर बाह्य रूप से ज़्यादा व्यक्ति की आतंरिक क्रियाओं के माध्यम से समाज की जटिलता दिखायी जा सकती है। इस प्रकार के चित्रण का एक उद्देश्य यह भी हो सकता है कि जो भी हलचल है, उथल-पुथल है, वह व्यक्ति में आंतरिक स्तर पर बहुत ज़्यादा है...और यही उथल-पुथल जब अनियंत्रित स्वरूप धारण कर लेती है, तब व्यक्ति अपराध की ओर मुड़ता है। उथल-पुथल का तात्कालिक आवेग क्रोध है, किन्तु स्थायी आवेग अपराध। अपराध साहित्य के पात्र को इसीलिए बहुत अन्तर्मुख रूप में चित्रित किया जाता है।

(4)

अपराध साहित्य को लेकर हिंदी का प्रबुद्ध पाठक आज भी बहुत उत्साहित नहीं है। सम्भवतः इसके पीछे हिंदी आलोचना का भी योगदान हो, जिसने यथार्थवादी साहित्य के आलोक में प्रतिरोध पूर्ण साहित्य को विशेष महत्व दिया। लेकिन यह विचित्र अंतर्विरोध था कि अपराध साहित्य को समाज का महत्वपूर्ण हिस्सा नहीं समझा गया, साहित्यशास्त्र के शोर-शराबे के बावजूद। मुझे कई बार लगता रहा है कि अपराध साहित्य अपने ढंग का प्रतिरोध निर्मित करता है। हाँ इसका प्रतिरोध क़ानून-व्यवस्था से ज़्यादा हमारी सभ्यता से होता है। अपराध साहित्य एक प्रकार से समाज के उन तंतुओं की बारीक़ पड़ताल करता है कि आख़िर क्यों व्यक्ति अपराध की ओर चला जाता है। दरअसल जासूसी उपन्यासों के प्रचलन के पश्चात अपराध

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

के पार्श्व से ज़्यादा अपराधी को पकड़ने पर बल दिया जाने लगा। जिससे यह तत्व ओझल रहा कि अपराध की पृष्ठभूमि क्या है? यहाँ महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि अपराध साहित्य के प्रतिरोध का स्वरूप क्या है? तथा उसके मुख्य धारा में न आ पाने की मुख्य वज़ह क्या है? हिंदी आलोचना में आपराधिक-जासूसी उपन्यासों-कहानियों को अ-गंभीर समझा जाता रहा है। दरअसल हम बद्ध ढंग से विधाओं को देखने के अभ्यासी रहे हैं। मनोरंजन करने मात्र या अपनी वासना-कुंठा, क्रोध की शांति के लिए अपराध साहित्य पढ़ना एक बात है और इस अपराध साहित्य के माध्यम से समाज के खोखलेपन को समझना दूसरी बात। हमारे आलोचक यदि अपराध साहित्य को मात्र मनोरंजक साहित्य समझते रहे हों तो इसमें दोष अपराध साहित्य का है या उनकी दृष्टि का। दरअसल अभी तक हमने अपराध साहित्य पर विस्तृत विचार ही नहीं किया।

हिंदी में अपराध साहित्य का अभाव क्यों है? यह प्रश्न अक्सर पूछा जाता रहा है। क्या हिंदी साहित्य में प्रयोगों का अभाव रहा है? या यह हिंदी क्षेत्र के अहिंसक होने का प्रभाव है? बंगाल में अपराध साहित्य समुन्नत रहा है, इसका कारण क्या वहाँ की सामाजिक संरचना रही है या नवजागरण के कारण सभ्यता के ज़ल्द प्रारम्भ होने का प्रभाव? पश्चिम में आधुनिक ढंग के न्याय-क़ानून की स्थापना पहले हुई...और अपराध साहित्य भी उसी अनुपात में लिखे गए। इसका कारण क्या है? क्या वह अपराध साहित्य वहाँ के क़ानून पर प्रश्न चिह्न हैं? अपराध साहित्य लेखन की परम्परा के हिंदी में क्षीण होने के अपने तर्क और कारण हो सकते हैं। हिंदी क्षेत्र में सस्ते अपराध साहित्य तो लिखे जाते रहे हैं...और उनकी पाठक संख्या भी बहुत ज़्यादा है। किन्तु उन्नत अपराध साहित्य की परम्परा बहुत मज़बूत नहीं है। अपराध साहित्य जिस प्रकार भय-कौतूहल की सृष्टि करता है, वह हिंदी क्षेत्र की मानसिकता के अनुकूल नहीं है। यह समाज जिज्ञासपरक समाज रहा है। इसीलिए यह कौतूहल को लंबे समय तक साथ लेकर नहीं चल पाता। जिज्ञासा में भी कौतूहल है, किन्तु इनमें मुख्य भेद यह है कि जिज्ञासा में नयेपन, ज्ञान की ललक मुख्य होती है तो कुतूहल में आस-पास का परिवेश, जो हमारी दृष्टि से ओझल रहा है या अज्ञानतावश या किसी अन्य कारण से हमसे ओझल है।

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

तुलनात्मक आलोचना के औज़ार...

11.02.2016

हमारे यहाँ तुलनात्मक आलोचना को लेकर अब तक कोई सैद्धांतिकी न बन पाई है। हम या तो किसी को श्रेष्ठ साबित करते हैं या किसी को हीन...दरअसल तब हम अपने पूर्वाग्रह या अपनी रूचि को ही बता रहे होते हों। इसका कारण भी यही है कि तुलनात्मक आलोचना को लेकर अभी भी हम 'कस्बाई मानसिकता' के शिकार हैं या गली-मोहल्लों के चौपाल में लगने वाले मत-मतान्तरों की तरह भावावेषित कथन कर ही संतुष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार की क्रिया या तो हम 'प्रभाववादी आग्रह' के वशीभूत होकर करते हैं या अपनी रूचि-अरुचि के वशीभूत...। तुलनात्मक अध्ययन को लेकर विकसित विभिन्न पद्धतियाँ प्रभाव, संचरण, सौभाग्य, सबंधात्मक स्तर पर तो विस्तार से कार्य किया गया, किन्तु तुलनात्मक आलोचना की सैद्धांतिक पद्धति को लेकर हमारे पास गहरे निष्कर्ष नहीं आ पाते।

बहुत पहले डॉ. देवराज ने 'छायावाद का पतन' लिखकर तुलनात्मक आलोचना की पद्धति को विकसित करने का प्रयास किया था, किन्तु मूल रूप से दार्शनिक अध्येता और रचनाकार होने के कारण वे इसे [अपने कार्य] और व्यवस्थित न कर सके। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना में भी तुलनात्मक आलोचना के सूत्र व्याप्त हैं, किन्तु वे भी उसे पद्धति के रूप में न विकसित कर सके। डॉ. नामवर सिंह और डॉ. रामविलास शर्मा की आलोचना क्षमता उनकी अपनी स्थापना-पूर्वाग्रह में विलीन हो गयी। 'दूसरी परम्परा की खोज' या 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना' जैसी पुस्तकें अपने मत की स्थापना-पूर्ति का प्रयास बन कर रह जाती हैं। बाद के वर्षों में डॉ. धर्मवीर ने 'कबीर के आलोचक' नाम पुस्तक लिखकर तुलनात्मक आलोचना को पूर्वाग्रह की जिस अंतिम सीमा तक पहुँचाया, उसके पश्चात तुलनात्मक आलोचना को हमारे यहाँ दुर्वचन के रूप में ही देखा जाने लगा। आज तो स्थिति यह है कि हम अपनी रुचियों को पाठकों पर आरोपित करने के लिए ही दो रचनाकारों के बीच तुलना करते हैं। हालाँकि तुलनात्मक आलोचना को

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

प्रतिष्ठित करने में पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवान दीन, मिश्रबंधु एवं महावीर प्रसाद द्विवेदी का योगदान महत्वपूर्ण है। बिहारी और देव की तुलना के सन्दर्भ में पद्मसिंह शर्मा और लाला भगवान दीन ने जिस सहृदयता का परिचय दिया है, वह सीखने की चीज हो सकती है। किन्हीं दो रचनाकारों के बीच तुलना उनकी कृतियाँ बनें, इस दृष्टि से यह प्रारंभिक आलोचना तुलनात्मक आलोचना के लिए पीठिका बन सकती हैं।

प्रश्न है कि यदि हम प्रसाद या निराला के बीच या अज्ञेय या मुक्तिबोध के बीच...जब तुलना करते हैं, तब किस प्रकार के आलोचना औज़ारों का इस्तेमाल करते हैं? निराला या प्रसाद की श्रेष्ठता उनके विचार, भाषा, कथ्य-संयोजन इत्यादि को लेकर करते हैं या सीधे-सीधे अपना निर्णय सुनाते हैं। कुछ वर्ष पूर्व एक संगोष्ठी में बोलते हुए डॉ. नामवर सिंह ने महादेवी की प्रशंसा-क्रम में 'पन्त के तीन-चौथाई रचना' को कूड़ा कहा था, जो काफ़ी चर्चित हुआ था। प्रश्न है कि क्या महादेवी की श्रेष्ठता को बताने के लिए पन्त को हीन सिद्ध करना ही तुलनात्मक आलोचना है? अज्ञेय को दोयम सिद्ध करने के प्रयास कम नहीं हुए, किन्तु ये प्रयास भी बहुत स्थूल-बाह्य थे। आलोचना कथ्य के आपसी अवयवों को पकड कर विकसित होती है। मुक्तिबोध का साहित्य निर्दोष नहीं है, किन्तु जब हम उनकी समीक्षा या तुलना करने जायेंगे तो हमें यह दिखाना पड़ेगा कि उन्होंने अपने कथ्य और रूप के मध्य किस सीमा तक संगति बैठाई है या दूसरे रचनाकार कहाँ कमतर सिद्ध हुए हैं...या एक ही कथ्य को लेकर रचित कविता या रचना-प्रक्रिया को लेकर...स्त्री लेखन या पुरुष लेखन के बीच के पार्थक्य या रचना-शैली के बीच का सूक्ष्म अध्ययन या इस प्रकार के सूक्ष्म प्रयास...कहने का अर्थ यह है कि हम बहुत स्थूल उपकरणों को लेकर तुलनात्मक आलोचना करने बैठ जाते हैं और वैसी ही सतही स्थापनाएँ कर बैठते हैं। एक सन्दर्भ लें। डॉ. नामवर सिंह की चर्चित पुस्तक 'दूसरी परंपरा की खोज' आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की रचना-प्रक्रिया के बहाने आचार्य रामचंद्र शुक्ल को कमतर सिद्ध करती पुस्तक है। दोनों आचार्यों के बीच तुलना कितने स्थूल/ मोटे मानकों के माध्यम से की गयी है...तुलसी के प्रशंसक आचार्य शुक्ल हैं तो वे पूर्वाग्रही और कबीर के प्रशंसक द्विवेदी जी प्रगतिशील...अब देखिये कितनी बचकानी और हास्यास्पद तुलना है। किन्तु आश्चर्य यह कि हम ऐसी ही बचकानी आलोचना के मुरीद होते चले गएँ, मानों बड़े गहरे निष्कर्ष हमें मिले हों।

(2)

तुलनात्मक आलोचना के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि वे किस आधार पर विकसित हों? क्या दो पुस्तकों-रचनाकारों के बीच तुलना का आधार सम-सामयिकता हो या अन्य सन्दर्भ भी आधार बने? हालांकि प्राचीन और नवीन कृतियों

CC-OAgamnigam Digital Preservation
Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

के बीच तुलनात्मक कार्य हुए हैं। कालिदास और प्रसाद के बीच भी तुलना की गयी है [देखें डॉ. देवराज...] और सम-सामयिक कृतियों के बीच भी। दरअसल तुलनात्मक आलोचना को लेकर हम इतने लापरवाह रहे हैं कि बिना सैद्धांतिक आधार के हम दो रचनाकारों के बीच तुलना करते हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे हम घर-परिवार के दो सदस्यों के बीच किया करते हैं...। जब हम युग-सन्दर्भ को हटा कर दो रचनाकार की कृतियों के बीच तुलना करते हैं तो उसका मुख्य आधार कथ्य की समीपता हुआ करती है। रोमैंटिक कवि कालिदास और जयशंकर प्रसाद के सौन्दर्य वर्णन की तुलना हो सकती है, कथ्य के सामीप्य के कारण; किन्तु इस सम्बन्ध में भी हमें पर्याप्त सावधान रहने की आवश्यकता है। स्त्री सौन्दर्य या प्राकृतिक सौन्दर्य एक मूलभूत अवयव रहा है, जिसे हर बड़े कवि ने अपने ढंग से नियोजित किया है। इस ढंग से यह सहज ही होता है कि हम स्त्री सौन्दर्य सम्बन्धी कथनों के आलोक में इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि किस रचनाकार ने सौन्दर्य सम्बन्धी उपस्थापना में ज्यादा गहरी पैठ हासिल की है। कालिदास जिस सौन्दर्य का वर्णन कर रहा है, उसमें सामंती सौंदयाभिरुचि भी है और उससे प्राप्त कवि की अपनी दृष्टि भी...। वहीं अगर जयशंकर प्रसाद नारी सौन्दर्य का वर्णन कर रहे हैं, तो उसमें उनका युग-सौन्दर्य, युग-मूल्य और स्वयं उससे निर्मित कवि-दृष्टि की हम कैसे उपेक्षा कर सकते हैं? कालिदास जब स्त्री सौन्दर्य को देख रहे हैं, तो वह मात्र कवि-दृष्टि नहीं, युग-दृष्टि भी है। आखिर एक श्रेष्ठ या प्रतिनिधि कवि अपने युग-सन्दर्भ [सौन्दर्य] का प्रातिनिधित्व ही तो होता हो। लेकिन अक्सर होता यह है कि हम बिना इस तथ्य के, केवल कथ्य सामीप्य के आधार पर अपनी राय कायम/निर्मित कर लेते हैं। जब हम किन्हीं दो कवियों की तुलना करें तो यह तथ्य भी संज्ञान में लाना बहुत जरुरी है कि उन दोनों ने अपने समय के प्राप्त निष्कर्ष/ सौन्दर्यबोध [मूल्य] को किस सीमा तक आत्मसात किया है। इसीलिए दो भिन्न युग के कवियों के बीच की तुलना निष्कर्ष पूर्ण ढंग से न करके सामीप्य-प्रणाली के अनुसार करना ज्यादा श्रेयस्कर है। चूंकि इस सम्बन्ध में हमारे पास कोई निकष नहीं है, इसलिए हम तत्काल निष्कर्ष देने लगते हैं...और जो प्रायः हमारी रूचि का प्रक्षेपण ही होते हैं। उदाहरणस्वरूप यदि हम अपनी बात रखें, जैसे कि वाल्मीकि और तुलसी के कृतित्व की तुलना...। इस सन्दर्भ में ढेरों आलोचनाएँ लिखी गयी हैं। उनका पिष्टपेषण करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। राम चरित्र की केन्द्रीयता में वाल्मीकि की रचना-दृष्टि और तुलसी के रचनात्मक प्रपत्ति को लेकर काफी कुछ लिखा गया है। इस सन्दर्भ में उनके युग-सन्दर्भ भी मूल्यांकित हुए हैं। लेकिन जब हम अपने निष्कर्ष तक पहुँचते हैं तो पाते हैं कि हमारी आलोचना तो बड़ी स्थूल है। 'वाल्मीकि की दृष्टि यथार्थवादी और तुलसी की आदर्शात्मक थी', जैसे स्थूल

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

निष्कर्ष देकर ही हम संतुष्ट हो जाते हैं। हम अपने तुलना में इस निष्कर्ष तक प्राय: नहीं पहुँचते कि वाल्मीकि और तुलसी की रचना-प्रक्रिया अपने युग-सन्दर्भ या रचना-समस्या को आत्मसात करते हुए किस रूप में और किस अनुपात में समृद्ध हुई है? किन्तु हम इस ढंग से अपने निष्कर्ष को नियोजित नहीं कर पाते, क्योंकि हमारे पास तुलनात्मक आलोचना की सैद्धांतिकी का अभाव है।

(3)

तुतुलनात्मक आलोचना में सम-सामयिक कवि, रचनाकार और कृति का प्रश्न केंद्र में रहा है। यदि दो रचनाकार सम-सामयिक रहे हैं तो उनके बीच तुलना होना स्वभाविक-सा चलन हो गया; खास तौर से एक काव्यान्दोलन के बीच के रचनाकारों के बीच। इस प्रकार की तुलना अनिवार्य /आवश्यक मान ली गई है। छायावादी कवियों (प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी) के बीच तुलना बहुत स्वाभाविक है, जैसे कि रोमांटिक कवियों के बीच। थोड़ा ध्यान दें तो यह मनोवृति समसामयिकता से ज्यादा, रचना-आंदोलन के करीब ज़्यादा रही है। जयशंकर प्रसाद से प्रेमचंद या प्रेमचंद से शरतचंद की तुलना आम रही है, किंतु प्रसाद और अज्ञेय, प्रसाद और मुक्तिबोध की तुलना प्राय: नहीं होती। ठीक ही है। इस ढंग से आलोचकों ने अपनी समझ के अनुपात में समसामयिक संदर्भों की अपनी समझ का अनुपालन सुनिश्चित किया है। किंतु यह समझ क्या निर्दोष थी?/ है? साहित्य के विकास की गति न नियत क्रम पर चला करती है और न नियत बिंदु पर, इसलिए जरूरी नहीं कि किसी युग के रचनाकार की तुलना सम-सामयिक रचनाकार से ही हो। कई बार भिन्न-भिन्न देश-काल, भाषा-देश के रचनाकारों का भाव समान होता है, अर्थात उनके गुण-धर्म एक-से होते हैं। इस ढंग से हर रचनाकार अपने लिए एक भाव-परिवार की सृष्टि करता है। जैसे भिन्न-भिन्न भाषा परिवार होते हैं, उसी प्रकार भाव परिवार भी होते हैं। एक भाव-परिवार की कवियों/ रचनाकारों का एक वर्ग और दूसरे भाव-परिवार के रचनाकारों का दूसरा वर्ग। प्रश्न है कि क्या एक ही थीम पर रचना करना और एक ही भाव-परिवार की सृष्टि करना, एक ही चीज है? नहीं, एक थीम (प्रेम, व्यवस्था इत्यादि) पर रचना करने वाले रचनाकार एक भाव-परिवार की संसृष्टि करें, यह जरूरी नहीं। कारण यह विषय की साम्यता / समानता बहुत आम है...सहज है। राम चरित्र पर ही मैथिलीशरण गुप्त, निराला, नरेश मेहता, भारत भूषण अग्रवाल...इत्यादि कवियों ने रचनाएँ लिखी हैं। अब उन्हें हम किस दृष्टि से एक भाव-परिवार के रचनाकार कहें। अत: विषय की साम्यता ऊपरले स्तर पर भ्रम पैदा करती है कि उन रचनाकारों के बीच तुलना हो सकती है, किंतु यह बहुत स्थूल रूप में ही, मोटे या बाह्य रूप में ही...।

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हिंदी में एक भाव-भूमि के रचनाकारों के बीच तुलना हो, यह वृत्ति कम रही है। अधिकांश में विपरीत वृत्ति, विचारधाराओं के बीच के रचनाकारों के बीच तुलना ज्यादा हुई है। जैसे अज्ञेय और मुक्तिबोध के बीच तुलना बहुत हुई है। दोनों रचनाकारों को एक-दूसरे के सामने खड़ा करने की प्रवृत्ति हिंदी आलोचना में बहुत रही; हालांकि इस ढंग से भी बहुत सूक्ष्म ढंग से कार्य नहीं हुआ। अज्ञेय की कविता और मुक्तिबोध की कविता पर बहुत वैचारिक ढंग से बात हुई है...अक्सर एक-दूसरे को बड़ा-छोटा सिद्ध करने की भावना से वशीभूत होकर लेखन कार्य हुआ। जैसे कबीर और तुलसी के बीच तुलनात्मक रूप से बहुत कुछ लिखा गया। उनके निर्गुण-सगुण पर, भक्ति भावना पर, उनके राम पर, किंतु उनकी रचना-शैली पर, उनके कथ्य-संयोजन पर, कथ्य-अनुभूति की एकतानता पर, अनुभूति और भाषा की एकतानता पर अपेक्षाकृत, प्रामाणिक रूप से बहुत कम लिखा गया। किन्ही दो रचनाकारों के बीच तुलना का आधार सम-सामयिक होना इसलिए भी बहुत प्रचलित रहा है कि इस बहाने आलोचक को एक ही सामाजिक परिवेश के संदर्भ में दो रचनाकारों की अभिव्यक्ति के परीक्षण का अवसर सहज ही मिल जाता है। अज्ञेय और मुक्तिबोध की तुलना? उसी समय तार सप्तक और प्रगतिवादी आंदोलन के बीच सक्रिय अन्य कई रचनाकार भी रहे हैं, किंतु उनके बीच उस रूप में तुलना नहीं है। इसका कारण क्या है? प्रभाकर माचवे, भारत भूषण अग्रवाल से केदारनाथ अग्रवाल की तुलना पर या इस प्रकार के अन्य रचनाकारों से तुलना न बराबर हुई। इसका कारण यह भी रहा है कि हम दो रचनाकारों के बहाने दो परस्पर विरोधी केंद्र निर्मित करते हैं और फिर उनके बीच आलोचना-कर्म में प्रवृत्त होते हैं। कबीर-तुलसी दो केंद्र बनते हैं। कबीर और जायसी के बीच आलोचना/ तुलना नहीं होती या जायसी और सूर के बीच तुलना नहीं होती। मुक्तिबोध और गिरिजाकुमार माथुर के बीच तुलना नहीं होती। यह ठीक है कि दो कवियों/रचनाकारों के बीच तुलनात्मक कार्य तब तक नहीं होते, जब तक कि उनके बीच रचना भूमि पर प्रतिक्रिया (रचना-प्रक्रिया) करने यह समान ढंग ना हो; किंतु इस ढंग से तुलनात्मक कार्य की प्रवृत्ति कम रही है।

(4)

तुलनात्मक आलोचना के संदर्भ में महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि यह है कि दो भिन्न अनुशासनों गद्य-पद्य या रचना-विधाओं के बीच किस प्रकार अपनी भूमिका का निर्वहन करता है? क्या गद्य और पद्य के रचनाकारों के बीच किसी प्रकार की तुलना संभव है? क्या जयशंकर प्रसाद की कविता और प्रेमचंद की कहानी के बीच तुलनात्मक रूप से कार्य किया जा सकता है? छायावाद और उसके समानांतर गद्य

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

साहित्य के बीच कभी-कभी दबे स्वर में तुलनात्मक उक्तियाँ कही गई हैं (देखें- डॉक्टर बच्चन सिंह विरचित हिंदी साहित्य का आधुनिक इतिहास व अन्य संदर्भ....) लेकिन यह किसी रचना और रचनाकार के बीच की तुलना नहीं है, अपितु एक युग के भीतर एक समान प्रवृत्ति खोजने की अकुलाहट है। गद्य और पद्य की रचना कृति/ रचनाकार के बीच तुलनात्मक रूप से कार्य बहुत कम हुआ है या दो भिन्न विधाओं के बीच भी इस प्रकार के कार्य कम ही हुए हैं। कारण क्या है? क्या इसका कारण यह रहा है कि हर रचना-अनुशासन अपनी रचना-प्रक्रिया में अलग समर्पण, प्रतिबद्धता और प्रतिभा की मांग करता है? एक चित्रकार से वास्तुकार-मूर्तिकार की तुलना कहाँ तक उचित होगी? ठीक उसी प्रकार एक नाटककार से एक कवि की तुलना प्राय: नहीं होती। तो प्रश्न रचना-शैली...रचना-प्रक्रिया का है। किंतु एक ही युग-संदर्भ के बीच कई बार भिन्न रचना-अनुशासननों के बीच भी तुलनात्मक कार्य, आलोचना किया जा सकता है। मसलन नक्सलबाड़ी के दौर में सृजित साहित्य के बीच एक ही रचनात्मक ऊर्जा को महसूस किया जा सकता है। कई बार एक ही रचनात्मक ऊर्जा का प्राकट्य भिन्न-भिन्न अनुशासन के साथ होता है...हो सकता है। जैसे राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में ही रचनात्मक ऊर्जा...नवजागरण की रचनात्मक ऊर्जा के बीच निसृत साहित्य, किंतु इस बीच भी रचना अनुशासन के पार्थक्य से विभिन्न विधाओं के बीच साहित्य की मूलभूत चेतना में काफी अंतर महसूस किया जा सकता है। महादेवी के रेखाचित्र और संस्मरण के समानांतर ही प्रगतिवादी एवं प्रयोगवादी कविताओं का सृजन हुआ। महादेवी के रेखाचित्रों और प्रयोगवाद-प्रगतिवाद की रचनाभूमि बहुत भिन्न है, जबकि उनका रचना समय एक ही है। दरअसल होता यह है कि रचना-अनुशासन एक युग में सृजित होते हुए भी अपने विकास की प्रक्रिया में अलग-अलग भूमि पर खड़े होते हैं। उदाहरण के लिए इसे हम इस प्रकार समझें कि कविता, कहानी, निबंध, आलोचना, संस्मरण या अन्य विधाओं की विकास-प्रक्रिया एक ही नहीं है...वह भिन्न-भिन्न पड़ाव पर हैं। ऐसे में कहानी की विकास-प्रक्रिया से रेखाचित्र से कैसे तारतम्य स्थापित किया जाए? इसकी दूसरी व्याख्या इस ढंग से भी की जा सकती है कि प्राचीन साहित्यिक विधाओं की तुलना में अपेक्षाकृत नई रचना विधाएँ अपने रचना-अनुशासन के बीच के अंतर्द्वन्द्व से अपेक्षाकृत कम जूझती हैं। नई रचना विधा अपने युग के दबाव से निश्चित हुई होती है, इसलिए उसमें तत्कालीन युग-संदर्भों का धनात्मक प्रत्युत्तर देने की अकुलाहट भिन्न होती है। एक दूसरा कारण नई रचना विधा के साथ यह भी है कि इसमें रचना-प्रक्रिया को लेकर, रचना-शैली को लेकर प्रयोग की गुंजाइश अपेक्षाकृत कम होती है।

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

(5)

तुलनात्मक आलोचना को लेकर महत्वपूर्ण प्रश्न रचना और सैद्धांतिक समीक्षा के पार्थक्य को लेकर है। प्रश्न है कि क्या रचना/ रचनाकार के बीच किए गए तुलनात्मक कार्य और सैद्धांतिक मतों/ स्थापनाओं के बीच के तुलनात्मक कार्य में मूलभूत अंतर होता है? भारतीय साहित्यशास्त्र मूलतः तुलनात्मक रहा है। अतः तुलनात्मक पद्धति भारतीय आलोचना का केंद्र रहा है। रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य, रीति जैसे सिद्धांत/ मूल्य तुलनात्मक परिपेक्ष में ही विकसित हुए हैं। रस सिद्धांत, अलंकार सिद्धांत से या वक्रोक्ति, ध्वनि सिद्धांत से तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में ही विकसित होकर प्रामाणिक हो सका है। हिंदी आलोचना भी अपने प्रारंभिक स्वरूप में तुलनात्मक ही रही है। मनुष्य अपनी सभ्यता के अगले चरण में तुलनात्मक पद्धति विकसित करता है। तुलनात्मक पद्धति वस्तुतः परसापेक्षता की पद्धति है, इसीलिए यह कई बार आवश्यक प्रतीत होती है; किंतु स्मरण रहे कि सिद्धांत /विचार के बीच की तुलना और रचना के बीज की तुलना में बहुत फर्क होता है। विचार की तुलना, सिद्धांत की तुलना में सांस्कृतिक भेद नहीं है। काल की बाधा नहीं है। यह अमूर्त है...और अमूर्त की तुलना उस ढंग से जटिल नहीं होती, जैसे कि मूर्त की होती है। मूर्त और स्थूल चीजों के लिए उनके देश-काल-परिस्थिति के अनुसार मानक निर्मित करना पड़ता है। अतः रचना/ कृति के बीच तुलनात्मक कार्य की पद्धति एक जैसी नहीं होगी। रचना के बीच की तुलना भी किसी कालखंड के बीच हो सकती है, किंतु उस तुलना के लिए कोई निश्चित मानक तय करने होंगे/ निर्मित करने होंगे। हमें यह बताना होगा कि ब्रेस्ट, कालिदास, शेक्सपियर, जयशंकर प्रसाद के बीच तुलना करने के कौन-से मापदंड होंगे और वह मापदंड किस रूप में उन पर लागू होंगे? केवल नाटककार होने के कारण इनकी तुलना करना तो बेहद स्थूल/मोटा कार्य है। तुलनात्मक आलोचना, जाहिर है कि बेहद संश्लिष्ट...जटिल प्रक्रिया है। इसलिए भी यह पद्धति विहीन कैसे हो सकती है! हमें बताना होगा कि शेक्सपियर की महानता किन बिंदुओं पर आधारित है? हमें बताना होगा कि जब वह नाटक लिख रहा था तब उस समाज में रंगमंच की किस पद्धति का व्यवहार हो रहा था? या उसने किस प्रकार के रंगमंचीय प्रयोग किए? उसके रंगमंच प्रयोग और उसके कथ्य की एकतानता किस रूप में विकसित हुई है? वह अपनी संस्कृति को किस रूप में निर्मित कर सका है? ऐसे ही तमाम प्रश्न हैं, जिनके आधार पर एक रचनाकार की कृति का मूल्यांकन दूसरे रचनाकार के सापेक्ष होगा। दरअसल कृति के बीच की तुलना बहुत से मानक के आधार पर ही हो सकती है, किंतु विचार/ सिद्धांत के बीच की आलोचना के लिए बहुत से मानक की आवश्यकता नहीं; किंतु मानक, सिद्धांत-पद्धति तो वहाँ भी खोजे जाने की आवश्यकता

CC-OAgamnigam Digital Preservation
Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

होती ही है। हमें यह देखना होगा कि प्लेटो, अरस्तू के बीच कौन-से बिंदु हैं, जो उन्हें एक-दूसरे से भिन्न बनाते हैं? भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की तुलना करेंगे तो वे आधार हमें बताने होंगे, जिन पर यह तुलना की जा सकती है।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कला और जीवन

07.07.2016

सामान्य जीवन में एक व्यक्ति हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख या किसी धर्म का होता है। किसी ख़ास जाति का होता है। इसी प्रकार वह कोई पद धारक होता है। उसकी पहचान बाह्य निर्धारक तत्वों से होती है। सामान्य जीवन आपको बांटता है, वर्ग विभाजित करता है...सही ढंग से कहें तो यह कि आपको श्रम और पूँजी के वितानों के बीचे में राजसत्ता और पूँजीसत्ता के चौखटे में फिट करने की कोशिश करता है। अपने सामान्य जीवन में हम इसीलिए एक मज़हबी या जाति के रहनुमाई करने वाले इंसान बन जाते हैं। और इससे बचे तो अपनी वर्गीय स्थिति के शिकार हो जाते हैं। कला इस चौखटे को तोड़ती है।

कला का सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह होता है कि वह हमें मनुष्य मात्र के रूप में देखना-पहचानना सिखाती है। कला का सबसे बड़ा कार्य यह होता है कि वह अपने हमारे 'मूल' से परिचय कराती है। रोजमर्रा के जीवन में हम एक विभाजित, कृत्रिम जीवन जीते हैं। कला हमारे चित्र ही हमें पकड़ा देती है। हमारे वे चित्र जिसमें हम मनुष्य होते हैं, कोई धर्म या जाति के नुमाइंदे नहीं। हमारा यह चित्र हमारा वास्तविक चित्र होता है। सच्चा, प्रामाणिक चित्र। हम जब अकेले होते हैं, भावुक होते हैं, द्रवित या कहें कि पवित्र होते हैं (कुछ क्षणों के लिए ही सही।), तब जिस प्रकार की अनुभूति हमें होती है, हम तब जैसा सोचते हैं; कला उन क्षणों को पकड़ती है। कला इस प्रकार ख़ास क्षणों को पकड़ती है। जीवन की विडंबना को पकड़ना बड़ी कला का कार्य होता है। दरअसल जीवन की विडंबना ही यही है कि हम अपने मूल और कृत्रिम के बीच एक फासला निर्मित कर लेते हैं और इस फासले में अपना पूरा जीवन कुर्बान कर देते हैं। कला इन विडम्बनाओं का आख्यान रचती है। वह कृत्रिम मनोवृत्तियों की विडंबना का प्रतिदर्श रचती हैं। हम कला के पास इसलिए जाते हैं कि हम अपनी मनुष्यता को थोड़ा पास से देख पाते हैं, जिसे हम रोजमर्रा के

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

व्यावसायिक जीवन में दूर कर बैठे हैं।

कला में जीवन के विडंबनात्मक चित्र होते हैं, किन्तु ये चित्र सार्थक होते हैं। सामान्य जीवन की विडंबना कला में आकर सार्थक हो उठती है। मात्र इसलिए नहीं कि वह वृत्तियों को रेचित या संयोजित करती है; अपितु इसलिए कि कला मनुष्य को उसके वास्तविक जीवन और सच्ची अनुभूतियों के क़रीब लाती है। कला जीवन के प्रामाणिक चित्र हमें पकड़ाती है, इसलिए वह सार्थक आख्यान रचती है।

कला के चित्र सपाट नहीं होते। एक मनुष्य तक की हमारी यात्रा जीवन के अनेक टेढ़े-मेढ़े रास्तों से होकर गुजरती है। इनमें जीवन की जटिलता, पेंचीदगी तो होती ही है, साथ ही सत्ता/व्यवस्था के अंतर्विरोध, उनकी क्रूरताएँ भी होती हैं। हमें हमारा चित्र, हमारा अक्श ही कला देती तो है, किन्तु दर्पण की भांति नहीं देती। कला हमारे अक्स को विभिन्न मनःस्थिति में विभक्त कर देती है। प्रामाणिकता के रास्ते सीधे-सरल होते भी नहीं। बहुधा लोगों को लगता है कि संत सरल होते हैं। निश्चित तौर पर संत सरल जीवन जीते हैं, किन्तु वे ऐसा तभी कर पाते हैं, जब जीवन की तमाम जटिलताओं, पेचीदगी को जान जाते हैं। कई बार बड़े व्यक्तित्व हमें रहस्यमय लगने लगते हैं। इनकी रहस्यमयता का कारण जीवन के गूढ़ तंत्र से हुआ उनका साबका ही होता है। इसीलिए बच्चे की सरलता और एक संत की सरलता में फ़र्क होता है।

प्रश्न यह है कि कला में आया जीवन हमारे लिए किस प्रकार काम्य हो सकता है? क्या कला में आये समस्त जीवन चित्र सार्थक होते हैं? ''कला चयनात्मक क्रिया पद्धति का गूढ़ संश्लेष है।'' उसके चित्र निरर्थक जीवन संवेगों को भी रचनात्मक बनाते हैं। मसलन जब किसी पात्र की सामान्य भाव-भंगिमाओं को कला में चित्रित किया जाता है, तो उसकी भी विशिष्टता होती है। 'शतरंज के खिलाड़ी' कहानी में नवाबों के आम-जीवन के ब्यौरे हैं, फ़िल्म में ज़्यादा विस्तार से वर्णित किया गया है। कल्पना करें कि आम जीवन में कोई नवाब किस ढंग से हुक्का पी रहा है, इसका कोई औचित्य नहीं है; किन्तु कला में यही महत्वपूर्ण घटक बन जाता है। कला मनोभावों की ऐंठन को पकड़ती है। इसलिए उसके हर आरेख, चित्र, रंग, बिम्ब, ध्वनि...आदि विशेष अर्थ में संयोजित होते हैं। कला जीवन को सूत्रात्मक ढंग से ढालती है। सामान्य भाषा में कहें तो यह कि संझेपीकरण करती है। महत्वपूर्ण चीजें सघन होती हैं, जैसे प्रेम, गणित के फार्मूले, कला आदि। इसीलिए तो कला में वृत्तियों की आवृत्ति की प्रक्रिया को धीमी कर दिया जाता है। महत्वपूर्ण कलाएँ जीवन के चयन का सूत्र होती हैं। वे कुछ निश्चित सूत्र हमें पकड़ाती हैं। मोटे तौर पर लगता है कि कला हमें कोई पूर्ण चित्र देती हैं, किन्तु क्या यह सम्भव है?

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कला जीवन की एक भंगिमा, एक विचार सूत्र ,एक मनोभाव, एक स्थिति, एक बिंदु हमें पकड़ाती है। हर कला अधूरे या कहें कि एक ख़ास क्षण, भंगिमा की विडंबनात्मक प्रस्तुति होती हैं। जीवन के वे चित्र जो हम चाहकर भी पकड़ नहीं पाते, कला उन चित्रों को हमें पकड़ा कर आगे बढ़ जाती है-किसी नए भाव-चित्रों को पकड़ने। ❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

साहित्य और सिनेमा : प्रस्तुति का प्रश्न

10.10.2016

आज एक प्रिय मित्र से साहित्य और सिनेमा की प्रस्तुति यानी उनके ट्रीटमेंट पर बातचीत हुई। मित्र का कहना था कि साहित्य और सिनेमा का ट्रीटमेंट मुख्यत: एक जैसा ही होता है। बातचीत का विषय मुख्यतः सिनेमा और साहित्य में प्रयुक्त गाली भरे संवाद और स्त्री-पुरुष के बीच के रति व्यापार के प्रस्तुति पर केंद्रित था। मित्र का तर्क था कि-"जिस प्रकार साहित्य में गाली भरे संवाद होते हैं, उसी प्रकार सिनेमा में भी हो सकते हैं...।" मित्र मेरी फ़िल्म पर की गयी समीक्षा से असंतुष्ट था। उसे मेरी दृष्टि ख़ालिस नैतिकतावादी लगी। उसने इसे मेरे क्लासिक दृष्टिकोण की सीमा के रूप में देखा। मित्र के अनुसार यथार्थ की प्रस्तुति के लिए गाली भरे संवाद या रति व्यापार के खुले चित्र काम्य हो सकते हैं। मित्र ने कहा कि-"'काशी का अस्सी' जैसे उपन्यासों में यदि बनारसी संस्कृति को उभारने के लिए 'गाली' का सृजनात्मक उपयोग [मैं सहमत नहीं हूँ] हो सकता है, तो यही कार्य फ़िल्में क्यों नहीं कर सकतीं?"। मैं मित्र के तर्क से सहमत न हो सका। मुझे लगा मित्र फ़िल्म और साहित्य के कथ्य-प्रस्तुति की प्रक्रिया को एक-जैसा समझ कर अपनी राय दे रहा है। यहाँ हमें साहित्य और सिनेमा के प्रस्तुति-पार्थक्य को समझना होगा। सिनेमा में गाली का प्रयोग साहित्य की तरह नहीं होता।सिनेमा में कोई संवाद अति-यथार्थपूर्ण ढंग से या नाटकीय ढंग से हमारे सामने आता है। इस प्रक्रिया में वह यथार्थ को सृजनात्मक ढंग से नहीं, अपितु उसे संवेगात्मक ढंग से प्रस्तुत करता है। सिनेमा "तीव्र संवेगात्मक विधा" है...वह किसी यथार्थ...तथ्य को बहुत तीव्रता के साथ हमारे सामने प्रस्तुत करता है...इस प्रक्रिया में ठहराव नहीं होता। फलतः अबुद्ध दर्शक उसके प्रभाव में तत्काल बह जाते हैं। चूंकि सिनेमा आस्वादन की प्रक्रिया में सामूहिक विधा है (साहित्य के नाटक की तरह...किन्तु नाटक प्रत्यक्ष रूप में क्रियाशील होता है, इसलिए उसमें उत्तेजना का अंश सिनेमा से ज़्यादा होता है...), इसलिए भी सम्प्रेषण की प्रक्रिया में उसमें साहित्य की अपेक्षा तीव्रता ज़्यादा होती

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

है। ऐसी स्थिति में गाली या कोई उत्तेजक कथन व्यक्ति को उकसाते हैं, उसे सांस्कृतिक मनोवृत्ति में नहीं पहुँचाते। इसी प्रकार स्त्री-पुरुष के रति-चित्रों को लें। सिनेमा दृश्य-श्रव्य विधा है; इस दृष्टि से भी वह साहित्य के अनुशासन व प्रभाव से भिन्न पद्धति पर विकसित होता है। किसी दृश्य को देखने और किसी दृश्य को पढ़ने के बीच आनुपातिक सम्बन्ध होता है। पढ़ने और आस्वादन के बीच बिम्बन की सृजनात्मक प्रक्रिया शामिल होती है, किन्तु देखने और आस्वादन के बीच बिम्बन की प्रक्रिया के लिए स्पेस नहीं निर्मित हो पाता। यहाँ प्रश्न यथार्थ का नहीं, यथार्थ के प्रस्तुति का है। यथार्थ का हू-ब-हू प्रस्तुतीकरण न तो सिनेमा करता है और न साहित्य। सिनेमा यथार्थ को नाटकीय जीवन स्थितियों में डाल देता है और साहित्य यथार्थ को पुनर्रचना की प्रक्रिया में....। इस प्रकार दोनों अनुशासन एक ही घटना को अलग-अलग प्रक्रिया से उठाते हैं...देखते हैं। जैसे स्त्री-पुरुष के रति चित्र साहित्य में बहुतेरे चित्रित हुए हैं, किन्तु वे प्राय: अश्लीलता से मुक्त हैं, वहीं सिनेमा में आकर बहुधा वे अश्लील बन जाया करते हैं। प्रश्न है ऐसा क्यों होता है? क्या मात्र इसलिए कि सिनेमा दृश्य विधा है? या अपनी नाटकीयता के कारण? वस्तुत: अश्लीलता का एक बड़ा कारण उसकी प्रस्तुति से जुड़ा हुआ है। कई बार श्रेष्ठ निर्देशन में रति चित्र बहुत कलात्मक बन जाते हैं (हालांकि दृश्य की अपनी सीमा है...), किन्तु ऐसा प्राय: अपवाद ही होता है। जबकि साहित्य के अपने ठहराव के कारण दृश्यों को पुन: रचने का अवकाश मिल जाता है। रति चित्र की मन : स्थिति, उसके प्रभाव इत्यादि के लिए जितना स्पेस साहित्य में होता है, उतना सिनेमा में नहीं। इसलिए यथार्थ के नाम पर दृश्य व कथन की हू-ब-हू प्रस्तुति मान्य नहीं की जा सकती।

सिनेमा बहुत कुछ नाटक की तरह तात्कालिक संवेदनों की गतिशीलता में अपनी प्रक्रिया को पुष्ट करता है। उसे सीमित समय में बड़े जीवन-चक्रों को समेटना होता है। ऐसी स्थिति में वह जीवन में घट रहे मनोभावों के पार्श्व या प्रक्रिया की बजाय उसके प्रभाव या निष्पत्ति पर केंद्रित होता है। प्रक्रिया की बजाय निष्पत्ति पर केंद्रित होने के कारण सिनेमा में जीवन की गूढ़ता का कई बार लोप हो जाता है। व्यक्ति का जीवन बेहद गूढ़ (सृजनात्मक) होता है। जीवन की गूढ़ता,जटिलता को समझे बिना हम यथार्थ को नहीं समझ सकते हैं। ''साहित्य जीवन की गूढ़ता (सृजनात्मकता) का आख्यान'' है। इसलिए वह जीवन के राग-रेशे को अलग-अलग कर उसकी समीक्षा करता है। किन्तु सिनेमा जीवन के कुछ हिस्सों का लोप/स्थगन कर देता है। जैसे रति-चित्रों को लें। एक स्त्री-पुरुष के बीच शरीर एक पड़ाव-मात्र है। स्त्री-पुरुष की शारीरिक निकटता के पूर्व लंबी मानसिक-संवेगात्मक प्रक्रिया चला करती है...जिसके बिना उस 'शरीर' का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में (या अन्य लेखकों की कृतियों में भी...) दुष्यंत-शकुंतला के बीच के शारीरिक संपर्क से पूर्व दोनों के बीच प्रेम की पुष्टि तक लंबी मनोवैज्ञानिक(सामाजिक भी...) प्रक्रियाओं का चित्रण किया है। कहने का अर्थ यह है कि रति व्यापार के चित्रण के लिए साहित्य में जिस प्रकार ''मनोवैज्ञानिक तैयारी'' के लिए अवकाश होता है, उस प्रकार सिनेमा में नहीं। वस्तुतः ''सिनेमा पृष्ठभूमि का नहीं, मुख्यांश का विधान है।'' यह ''मुख्य तथ्य के प्रस्तुतिकरण का अनुशासन'' है; इसलिए यह ज़रूर देखा जाना चाहिए कि सिनेमा में उन दृश्यों की ही प्रस्तुति हो, जो बिना पृष्ठभूमि के भी मंचित हो सकें।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

बेस्ट सेलर कृतियाँ : काल का तात्कालिक उत्प्रेरण

05.11.2016

आज एक मित्र से बेस्ट सेलर कृतियों पर चर्चा हुई। मित्र ने बेस्ट सेलर कृतियों को जीवन के सच्चे प्रतिनिधि के रूप में देखा। उसके अनुसार ''गंभीर साहित्य में जीवन को कृत्रिम रूप में या मनोभावों को परिष्कृत करके चित्रित किया जाता है, जिसके कारण मनोभाव सच्चे न रहकर आभासी हो जाते हैं।'' मित्र ने इस संदर्भ में फ़िल्मी गीत और कविता का उदाहरण दिया। ''गीत में जैसे स्वाभाविकता होती है...अनुभूति का उल्लास होता है, उसी प्रकार लोकप्रिय साहित्य में भी होता है। कविता का सत्य बिम्ब होते हैं। बिम्ब जटिल जीवन के यथार्थ होते हैं। उनमें गूढ़ता होती है, सहजता नहीं।'' मित्र ने अपने तर्कों को आत्मविश्वास के साथ रखा और मेरे उत्तर की प्रतीक्षा करने लगा। मुझे लगा कि मित्र तात्कालिक सत्य को जीवन सत्य समझ रहा है। मेरा तर्क था कि भारत और पश्चिम में हर साल बेस्ट सेलर कृतियाँ आती हैं...और कुछ वर्षों बाद उन्हें भुला दिया जाता है। आख़िर ऐसा क्यों होता है? क्या यह लेखकीय अनुभूति का क्षरण है? या पाठक के स्मृतिध्वंश का उदाहरण? सत्य क्या तात्कालिक जीवन संवेग की अभिव्यक्ति मात्र होते हैं? क्या सत्य और मानवीय अनुभूति काल की दीर्घ अवधि में अपना विस्तार नहीं करते? कालिदास, भवभूति, कबीर, टॉलस्टॉय, शेक्सपियर...आदि की जीवनानुभूति उनके युग के सत्य से आगे क्यों बढ़ गई? पश्चिम में क्लासिक साहित्य के लक्षण में 500 वर्ष की जीविता को एक लक्षण माना गया है। शास्त्रीय परंपरा में कहा गया है कि किसी रचना का सौ पाठ करने पर रचना समझ में आनी शुरू करती है। लेकिन आज के पाठक से हम किस धैर्य की उम्मीद करते हैं? और पाठक ही क्यों लेखक भी क्या 20-50 वर्ष को ही अंतिम सत्य के रूप में नहीं देख रहे? मैनेजर पांडेय जैसे आलोचक लोकप्रिय साहित्य के समाजशास्त्र की बात उठाते हैं। ग्राम्शी के बहाने वे प्रश्न उठाते हैं कि लोकप्रिय साहित्य से साहित्य के समाजशास्त्र को समझा जा सकता है। समाजशास्त्र तो पोर्न से भी समझा जा सकता है, तो क्या हम उसे भी साहित्य में लें? मित्र गंभीर साहित्य में

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

व्यक्त अनुभूति को कृत्रिम कहता है। अनुभूति वही नहीं होती, जो तात्कालिक होती है। बल्कि वह भी होती है, जो काल की दीर्घता में पकती है। कच्चे भाव हों या भोजन, वे अस्वास्थ्यकर ही होते हैं। अब कोई नादान कच्चे भाव को ही प्राकृतिक समझ बैठे तो क्या कहा जाए! संप्रेषणीय होना और लोकप्रिय होना एक ही चीज़ नहीं है। लोकप्रिय साहित्य यदि वास्तविक रूप में संप्रेषणीय होता तो अपने पाठ की कुछ-एक आवृत्ति के पश्चात चूक न जाता। क्लासिक कृतियाँ इस ढंग से ज़्यादा संप्रेषणीय होती हैं। लगता है पापुलर लिटरेचर या बेस्ट सेलर कृतियाँ मनोदशाओं को अनुभूति समझने का भ्रम पाले हुए हैं। अनुभूति जीवन दशाओं की गूढ़ता की समझ होती है और मनोदशा जीवन गूढ़ता की तात्कालिक प्रतिक्रिया। हम जानते हैं कि मनोदशाएँ काल क्षण के सीमित साक्ष्य को अपना आदर्श बनाती हैं। हमारी मनोदशाएँ संचारी की तरह होती हैं, जो कुछ समय पश्चात ही बदल जाती हैं। बेस्ट सेलर कृतियाँ मुझे "मनोदशा का साहित्य" लगती हैं। अलग-अलग मनोदशाओं (मूड्स) का कोलाज़...। लगता है कि ढेर सारे मनस्थितियों को संयोजित कर दिया गया हो। अब मनोदशा भी काल क्षण का सत्य है ही, तो मित्र उसे स्थायी सत्य मान रहा हो तो उसे क्या कहा जाए!!

बेस्ट सेलर कृतियाँ बाज़ार और मनोदशाओं के योग का परिणाम हैं। लोकप्रियता एक मुहावरा है, जिसकी आड़ में बेस्ट सेलर कृतियों का बाजार खड़ा किया जाता है। अनुभूति पर मनोदशा और सम्प्रेषणीयता पर लोकप्रियता का वर्चस्व खड़ा करने का बाजारीकृत नुस्ख़ा ही बेस्ट सेलर कृतियों के मूल में है। प्रश्न उठता है कि क्या बेस्ट सेलर कृतियाँ एकदम से सस्ती कृतियाँ हैं? क्या इनमें वैचारिक गंभीरता नहीं होती? इस संदर्भ में हमें इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि भारतीय बेस्ट सेलर कृतियों और पश्चिम के बेस्ट सेलर रचनाओं में फ़र्क है। पश्चिम की बेस्ट सेलर कृतियाँ ज़्यादा गंभीर हैं। उनमें वैचारिकता का आभास है। एक उदाहरण लें। पावलो कोवलो की प्रसिद्ध कृति अलकेमिस्ट पश्चिम की बेस्ट सेलर कृति है। इस कृति में मनोदशा को वैचारिक ऊँचाई प्रदान की गई। मनोदशा को वैचारिक ऊँचाई तक पहुँचाने पर वह 'सत्य का आभास' कराने लगता है। आभासी सत्य उत्तर-आधुनिकता का मुहावरा है। बेस्ट सेलर कृतियाँ आभासी सत्य की बाज़ारू रूप हैं।

बेस्ट सेलर कृतियों की भाषा बोलचाल की भाषा के निकट है। भारतीय परंपरा में भाषाओं के वर्गीकरण मन:स्थितियों और व्यक्तित्व की चेतना के अनुरूप रही है। वाक्यपदीयम में परा, पश्चयन्ती, मध्यमा, वैखरी इस प्रकार के वर्गीकरण व्यक्तित्व और मनोदशा के आधार पर ही किये गए हैं। वैखरी बोलचाल की भाषा है और मध्यमा सामान्य पढ़े-लिखे लोगों की। लोकप्रिय साहित्य के पक्षकार इस अंतर को मिटाने की कोशिश करते हैं। यह सिद्धांत इस मनोविज्ञान को नकारता है

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कि भाषा और व्यक्तित्व का अनिवार्य संबंध है। यहाँ सब कुछ वैखरी भाव में है। हम जैसा बोलते हैं, वैसा ही नहीं लिखते (भवानी भाई क्षमा करें।)। कथन, लेखन की व्यावहारिक भंगिमा है और लेखन कहन का सैद्धांतिक अनुशासन। एक प्रोफ़ेसर की भाषा और एक रिक्शे वाले की भाषा में अंतर होगा। इसका अर्थ यह नहीं कि एक बड़ा है और दूसरा छोटा। किन्तु भाषा-प्रयुक्ति में भाषा और व्यक्तित्व, भाषा और क्रिया और भाषा और व्यवसाय का अनिवार्य संबंध ठहरता है। लोकप्रिय या बेस्ट सेलर कृतियों में भाषा के स्तर पर व्यक्तित्व को नापा जाता है। गंभीर साहित्य में व्यक्तित्व के आधार पर भाषा को देखने की परंपरा रही है।

आज का एक बड़ा वर्ग भाषा और व्यक्तित्व को मनोदशा की अभिव्यक्ति मात्र समझता है। वह अपने सत्य और अपनी मनोदशा के साथ खड़ा है। यह प्रभाववाद का उत्तर-आधुनिक रूप है। किसी परिस्थिति से प्रभावित होना और फिर उसे वैयक्तिक मनोदशा में ढालना एक चीज़ है और किसी परिस्थिति को अपनी मनोदशा की दृष्टि से देखना दूसरी बात। बेस्ट सेलर कृतियाँ मनोदशाओं के आलोक में परिस्थिति और समाज को देखना चाहती हैं। हाँ बाज़ार इनका पार्श्व जरूर है। बाज़ार का वैयक्तिक रूपांतरण मनोदशाओं में होता है। साहित्य पूँजी से खेलता है और इच्छा वस्तुओं से। इस प्रकार इच्छा एक कोड है और पाठक एक उपभोक्ता।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

प्रिय रचना बनाम प्रिय रचनाकार

19.12.2016

(1)

आज एक प्रिय मित्र ने प्रिय रचना बनाम प्रिय रचनाकार का प्रश्न उठाया। प्रश्न उठा कि ऐसा क्यों होता है कि कोई रचना हमें 'अत्यंत प्रिय' होती है, किन्तु रचनाकार के रूप में वह रचनाकार प्रिय हो; यह अनिवार्य रूप से नहीं होता। किसी रचना और रचनाकार के प्रिय होने के 'तात्विक कारण' होते हैं। एक रचना हमें प्रिय तभी लगती है, जब कि वह अपने 'कथ्य के धरातल' पर हमारी संवेदना और संचेतना को जाग्रत और पुष्ट करती है। कई बार ऐसा भी होता है कि किसी रचनाकार की दूसरी रचना उसी पाठक को पसंद नहीं आती। एक लेखक की तरह ही एक पाठक की भी 'अपनी विशिष्ट मनोदशा' होती है। कोई ख़ास रचना एक मनोदशा की पूर्ति तो करती है, किन्तु साथ ही यह भी होता है कि कोई रचना किसी कथ्य को या तो अपनी संपूर्णता में अभिव्यक्त कर देती है या किसी मनोवृत्ति को अपने औदात्य रूप में प्रस्तुत कर देती है। एक श्रेष्ठ रचना 'मनोवृत्तियों का संयोजन' और उसका एक 'ख़ास दशा में अभिसिंचन' करती है। ऐसी स्थिति में पाठक और लेखक के रिश्ते कथ्य-केंद्रित बनते हैं, न कि शैली केंद्रित।

किसी लेखक के प्रिय होने के निहितार्थ कई दृष्टियों से हो सकता है। व्यक्तित्व और शैली की दृष्टि से कोई रचनाकार आपको प्रिय लगने लगता है। मुक्तिबोध मेरे प्रिय कवि हैं। इस प्रियता का कारण बहुत गहरे 'व्यक्तित्व संयोजन' में जुड़ा हुआ है। कोई रचनाकार आपके व्यक्तित्व को संयोजित करने लगता है। उसकी लेखन शैली आपके व्यक्तित्व संयोजन की प्रक्रिया को बहुत गहरे संस्पर्श कर जाती है। इसलिए कोई रचनाकार हमें प्रिय लगने लगता है। प्रिय लगना तब 'आत्मनिष्ठ प्रक्रिया' नहीं रह जाती, बल्कि 'वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया' बन जाती है।

किसी रचना की प्रियता 'कथ्य केंद्रित' हो सकती है, 'कथ्य के एक अंश से जुड़ाव के अर्थ में'। यही कारण है कि हमें ढेर सारी रचनाएँ पसंद होतीं हैं, विभिन्न लेखकों की। कुछ ऐसे लोग भी होते हैं, जो किसी एक रचनाकार तक अपने को

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सीमित नहीं रख पाते। वे लोग अपने प्रति ही आश्वस्त नहीं होते। किसी व्यक्ति, वस्तु का प्रिय लगना मानव स्वभाव है। व्यक्ति की रुचि-अरुचि कोरी वैयक्तिक अवधारणा नहीं होती। कोई व्यक्ति हमें पसंद है तो उसके वस्तुनिष्ठ कारण हैं और यदि कोई व्यक्ति हमें पसंद नहीं है तो उसके भी वस्तुनिष्ठ कारण होंगे। किसी व्यक्ति का अच्छा लगना यह संकेत करता है कि हमने अपनी 'मनोवृत्तियों का संयोजन' करना सीख लिया है। उसी प्रकार किसी रचना के अच्छे लगने का यह संकेत समझना चहिए कि हमने उस 'कथ्य को अपने व्यक्तित्व' के साथ जोड़ लिया है या 'रचना का कथ्य हमारे व्यक्तित्व के साथ जुड़' गया है। क्या रचना का अच्छा लगना मात्र कथ्यगत है? कई बार कुछ रचनाएँ अपने शिल्प के कारण भी हमें आकृष्ट करती हैं। हाँ ऐसा संभव है, किन्तु इसका धरातल दूसरा है। शिल्प की नवीनता से रचना के पसंद आने के दो धरातल हैं। एक, तो ऐसा तब होता है, जब हम रूपवादी रुझानों से संचालित होते हैं। रूपवादी रुझान का तात्पर्य यह है कि हम कथ्य से ज्यादा शिल्प के आग्रह से संचालित होते हैं। दूसरा, कारण ज्यादा गंभीर है। शिल्प का संबंध गहरे रूप में व्यक्तित्व की भंगिमा से जुड़ा हुआ है। इस धरातल पर जुड़ने पर हम रचनाकार से सीधे जुड़ जाते हैं। यह प्रक्रिया संश्लिष्ट है। अत: पाठ और व्यक्तित्व की दृष्टि से रचना समर्पण की मांग करती है।

(2)

प्रिय रचनाकार का अनिवार्य संबंध 'वैचारिकी' से है। हमें कोई रचनाकार तब तक प्रिय नहीं लगता, जब तक कि हम उसकी वैचारिकी के साथ न हो लें। प्रिय रचना में वैचारिकी की अनिवार्यता नहीं होती, अपितु 'कथ्य तादात्म्य' की अनिवार्यता होती है। यह एक कठिन प्रश्न है, जो प्रथमतया सरल दिखता है। आप किसी से पूछें कि उसकी प्रिय रचना, तो वह तत्काल उत्तर दे देगा; किन्तु आप जैसे ही पूछेंगे क्यों, वह थोड़ा सोचेगा। फिर आप पूछेंगे, वही रचना प्रिय क्यों?, वह थोड़ा और सोचेगा। हमारे जीवन में कई बार सरल दिखने वाले प्रश्नों के उत्तर बहुत कठिन हो जाते हैं।

वैचारिक प्रश्नों के उत्तर कठिन होते हैं। भावयुक्त चीज़ें सरल होती हैं। मनुष्य जैसे-जैसे वैचारिक होता जाएगा, जटिल होता जायेगा। भाव नहीं बढ़ता। समय के साथ वैचारिकता बढ़ती जाती है। आज से 500 वर्ष पूर्व जैसे 'भाव' थे, आज भी हैं; किन्तु वैचारिकता वही नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य के संवेग, संवेदनाओं का विस्तार नहीं होता, अपितु इसका कारण यह है कि मूल भाव की गहनता 'युग-सापेक्ष' नहीं होती। भाव या संवेदना के परिस्थिति

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

संयोजन होने की प्रक्रिया में भावों का भी विस्तार होता है। स्थायी भाव और संचारी भावों की संख्या वही नहीं है, जैसी भरतमुनि के समय थी। प्रश्न थोड़ा कठिन दिख रहा है। समय के बदलाव में मनोभावों के संयोजन की प्रक्रिया पेंचीदगी से भर उठती है। यहाँ भाव संयोजन की प्रक्रिया विचार की अनुवर्ती होती है। समय के बदलाव से विचार पहले टकराते हैं या यह कहें कि वैचारिक मानों के आग्रह से बदलाव उपस्थित होता है, तब मनोभावों के संयोजन की प्रक्रिया भी नए सिरे से उपस्थित हो जाती है। हमने कहा कि भाव नहीं बढ़ता, विचार बढ़ता है। इसका वास्तविक अर्थ यही है कि मूल रूप से भाव नहीं बढ़ते, किन्तु मूल रूप से विचार बढ़ते हैं।

प्रिय रचना और मनोवृत्ति

हमारे प्रिय लगने का एक संबंध वस्तुनिष्ठ कारकों के कारण होता है तो दूसरा कारण निहायत आत्मनिष्ठ मनोवृत्तियों पर आधारित होता है। हम किस चीज़ को पसंद करते हैं, उसमें हमारा अपना व्यक्तित्व भी शामिल होता है। प्रिय रचना और प्रिय रचनाकार का द्वैत भी दो तरह का संकेत कर रहा है। प्रिय रचना कथ्य के साथ ही वैचारिक जुड़ाव का संकेतक है और प्रिय रचनाकार व्यक्तित्व के साथ रचनाकार व्यक्तित्व का साम्य है...एक बिंदु पर सिमट आना है।

यहाँ एक तथ्य समझना है कि प्रिय रचना जिस प्रकार मनोवृत्ति की नियामक होती है, उसी प्रकार प्रिय रचनाकार नहीं। प्रिय रचनाकार में आत्मनिष्ठता भी कहीं-न-कहीं जुड़ी रहती है, किन्तु प्रिय रचना में मनोवृत्ति के स्तर पर ज़्यादा वस्तुनिष्ठता होती है। यह थोड़ा विरोधाभासी लगता है, किन्तु कई बार विरोधाभास भी यथार्थ की ही अभिव्यक्ति होता है।

प्रिय रचना प्रायः पाठक की अपनी आकांक्षा, सपने, अतृप्ति की भी अभिव्यक्ति करती है। इसलिए हर पाठक को प्रिय रचना और प्रिय रचनाकार के बीच पार्थक्य स्थापित करना आना चाहिए। प्रिय रचनाकार उत्तरवर्ती पद है। बिना प्रिय रचना के क्रमिक सातत्य के बिना प्रिय रचनाकार तक नहीं पहुँचा जा सकता। प्रिय रचना मनोवृत्ति का तात्कालिक उत्प्रेरण है; जबकि प्रिय रचनाकार व्यक्तित्व के साथ वृत्ति सातत्य का निष्कर्ष, परिणाम।

प्रिय रचना से पूर्व पार्श्व भी होता है। किसी रचना के प्रभाव में कुछ देर के लिए पाठक आता है। कई बार यह प्रभाव तात्कालिक होता है; किन्तु प्रायः स्थायी भी...। किसी रचना के प्रभाव को एक पाठक लंबे समय तक महसूस करता है, तब वह प्रिय रचना के पद को प्राप्त कर लेता है। एक उदाहरण से इस तथ्य को

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

समझने का प्रयास करें। किसी पुरुष को कोई स्त्री सुंदर लगती है। वह तात्कालिक रूप से उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होता है...कुछ क्षण के लिए अपने भीतर उस स्त्री के प्रति आकर्षण महसूस करता है; किन्तु समय, परिस्थिति के कारण यह प्रभाव क्षीण पड़ जाता है। तब क्या इसे हम प्रिय लगना कहेंगे? उत्तर नकार में होगा। प्रिय लगने का संबंध सातत्य में निर्धारित होता है। हमारी मनोवृत्तियाँ जब लंबे समय तक एक बिंदु पर घनीभूत हो जाती हैं, तब प्रिय-संकेत समझना चाहिए। प्रियता में ठहराव है। बिना ठहराव के प्रेम कहाँ?

प्रिय पद आत्मनिष्ठ संकेतक है; किन्तु यह कोरा भावुक पद मात्र नहीं है। कई बार रुचि-अरुचि को हम बहुत हल्के में...वैयक्तिक रूप में विश्लेषित कर देते हैं। हमारी रुचि-अरुचि या हमारी मनोदशा हमारे व्यक्तित्व से पृथक नहीं है! आत्मनिष्ठ वृत्तियाँ जब संतुलन के मार्ग पर चल पड़तीं हैं, तब वह वस्तुनिष्ठ धरातल प्राप्त कर लेती हैं।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

क्रांतिकारी कविताएँ

11.01.2017

(1)

क्रांतिकारी कविताएँ मनुष्य मन के आवेग पर आधारित होती है। इस प्रकार की कविताएँ व्यवस्था के प्रति उबाल और मनुष्यता के प्रति राग के आवेग को एक साथ धारण करती हैं। बहुधा क्रांतिकारी कविताएँ किसी भी प्रकार की बाध्यता के खिलाफ एक उद्घोषणा होती हैं। यह बाध्यता व्यवस्था की भी हो सकती है और रिश्तो की भी। हाँ क्रांतिधर्मी कविताओं का एक प्रमुख गुण आवेग, विध्वंस और सृजन की अनुप्रेरणा होती है। विद्रोही कविताएँ केवल प्रश्नचिन्ह पर टिकी होती हैं, जबकि क्रांतिकारी कविताएँ मुख्यता रचनात्मक विकल्प की प्रेरणा में रचित होती हैं। क्रांतिधर्मी कविता और रोमांटिक कविता में बहुत गहरा अंतर्संबंध है। परंपरागत स्थितियों को स्वीकार कर लेने वाला व्यक्ति न तो क्रांतिधर्मी कविता रच सकता है और ना तो रोमांटिक कविता। क्रांतिधर्मिता और प्रेम दोनों के मूल में 'बद्ध' जीवन-स्थितियों के प्रति नकार, विद्रोह का भाव ही रहता है।

क्या क्रांतिधर्मी कविताओं की कोई सामाजिक स्थिति होती है? एक तो इस प्रकार की कविताओं के लिए राजनीतिक, सत्तात्मक पराधीनता की स्थिति काम्य होती है। दूसरे ऐसी स्थिति, जिसमें समाज अपने भीतर बद्धता को महसूस करें। प्रश्न है कि क्या किसी भी समाज में बद्धता की स्थिति से मुक्ति भी होती है? या कुछ समाज प्राय: गतिशील रहते हैं? वैसे तो गतिशीलता अनिवार्य स्थिति है। मानवीय सभ्यता के इतिहास-क्रम को उठा ले मानवीय सभ्यता बिना गतिशीलता के आगे बढ़ ही नहीं सकती। यह हमेशा चलने वाली प्रक्रिया है, किंतु ध्यान रहे कि गतिशीलता और गत्यात्मकता में फर्क है। गतिशीलता प्राकृतिक स्थिति है, अनायास है; किंतु गत्यात्मकता सायास प्रक्रिया है, उसे लाना पड़ता है, उसे प्रयास से लाना पड़ता है। जैसे परिवर्तन, गतिशीलता तो पारंपरिक दर्शन-चिंतन की स्थितियों में भी होता है, किंतु उसमें गत्यात्मकता नहीं होती। गत्यात्मकता हमेशा क्रांति में पलती है। अपने युग की गति से हो रहे परिवर्तन से आगे काल की गति को थोड़ा तेज कर

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

देना, थोड़ा तेज घुमा देने का प्रयास ही गत्यात्मकता है। वेद की ऋचाएँ, उपनिषदों की सूक्तियां, कबीर की साखियाँ नाथ कवियों के पद, सिद्धों के संध्या भाषा गत्यात्मक साहित्य के अंग है...। गतिशील और गत्यात्मकता को समझने के लिए मुख्य बिंदु भी यही है कि पहली स्थिति में प्रक्रिया मनुष्य की स्वतंत्र वृद्धि से संचालित नहीं होती। वहाँ अ-नियंत्रित होती है। इतिहास की सचेतन वृद्धि से अलग होती हुई, किंतु गत्यात्मक जीवन स्थितियों में परिवर्तन की धुरी मनुष्य की सायास स्मृति पर केंद्रित हो जाती है। जैसे कहें कि राष्ट्रीय आंदोलन के बीच भारतीय समाज की गत्यात्मकता सचेतन व्यक्तियों द्वारा नियंत्रित-संचालित थी, जबकि स्वतंत्रता पश्चात का देश-विभाजन इतिहास का अनियंत्रित रथ था, जिसकी डोर हमसे छूट गई थी। स्पष्ट रूप से समझने वाली बात यह है कि क्रांतिधर्मी कविताओं का लेखनकाल यही गत्यात्मक जीवन स्थितियाँ बनती हैं। इसीलिए अनियंत्रित जीवन स्थितियों के बीच क्रांतिधर्मी कविताओं का सृजन नहीं होता। ऐसे समय में संयोजनधर्मी रचनाओं की उत्पत्ति होती है। क्रांतिधर्मी कविताओं के लिए जरूरी नहीं है कि राजनीतिक पराधीनता की ही स्थिति हो। ऐसे किसी भी समय में जब समाज अपने भीतर राग या आत्मिक ऊर्जा महसूस न कर पाए, जब समाज के अंतर्विरोध उसके जीवन दशा के ऊपर चले जाएँ; तब इस प्रकार की कविताएँ सृजित होंगी।

(2)

प्रश्न है कि क्या क्रांतिकारी गद्य और क्रांतिकारी कविताओं के गुण-धर्म और चेतना में अंतर होता है? या दोनों एक ही पद्धति पर रचित-सृजित होती हैं? नागार्जुन की कविताओं और उनके कथा-साहित्य के बीच तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है या मुक्तिबोध के गद्य और कविताओं के बीच...या राजकमल चौधरी के गद्य और उनकी कविताओं के बीच या इसी प्रकार का अध्ययन अन्य साहित्यकारों के संदर्भ में भी किया जा सकता है। कविता जिस प्रकार भावात्मक आवेग रचती है, उसकी तुलना में गद्य व्यापक सांगठनिक अवयवों की तलाश करता है। गोर्की की 'मां' या हार्वर्ड फास्ट की 'स्पार्टकस' में जिस प्रकार क्रांति को सांगठनिक रूप दिया गया है, वैसा कविता की संरचना में संभव नहीं था। लंबी-से-लंबी कविता भी एक तारतम्यता, एकरेखीयता, एक-देशीयता से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाती। दरअसल कविता की प्रभावान्विति भी तभी हो पाती है, जब वह सघन व्यापक विवरणों के बीच एक भाव को सघन करती है। गद्य में भी एक भाव चल सकता है...चला करता है, किंतु उसका एक भाव कई अवांतर भाव के परिवृत्त में रचा जाता है, जबकि कविता में एक केंद्रीय थीम के आलोक में अन्य परिवृत्त रचे

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जाते हैं। इस प्रकार की पद्धति क्रांतिकारी रचनाओं में भी देखने को मिलती है। मुक्तिबोध की लंबी कविता 'अंधेरे में' हिंदी साहित्य में क्रांति का रूपक है तथा अपनी संगठना में महाकाव्यात्मक कविता है, किंतु यदि पूरी कविता का अध्ययन किया जाए तो हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि कवि ने व्यक्तित्वान्तरण के प्रश्न के आलोक में क्रांति का स्वप्न रचा है। अब यदि इसी के संदर्भ में द मदर और स्पार्टकस को देखें। (तुलना करना ठीक नहीं होगा, क्योंकि विधा के पार्थक्य के साथ ही अलग-अलग काल और परिस्थिति के बीच की रचनाओं में इस प्रकार का तारतम्य स्थापित नहीं किया जा सकता) इन रचनाओं में जिस प्रकार संगठन की प्रक्रिया, सत्ता के दमन, जनता की असंतुष्टि, एका के बिंदु, विद्रोह के आधार, विद्रोह-संघर्ष-क्रांति-परिवर्तन का बहुविध विस्तार से वर्णन मिलता है, वह कविता में संभव नहीं; बावजूद कविता का प्रभाव ज्यादा तीव्र और संवेदीकृत है। गद्य जिस प्रकार हमें वैचारिक दृढ़ता देता है, उसी प्रकार कविता संवेदनात्मक घनीभूतता। गद्य की रचनाएँ हमें लंबे मानसिक परिवर्तन के लिए तैयार करती हैं, किंतु कविता तत्काल प्रवृत्त करती है।

क्रांतिधर्मी साहित्य के इस बिंदु को थोड़े और गहरे रूप में समझे जाने की आवश्यकता है। गद्य एकांत आस्वाद का विषय है (इंडिविजुअल), किंतु कविता में सार्वजनिक आस्वाद का एक विशेष गुण अंतर्निहित होता है। हालांकि कहानी के पाठ की भी परंपरा रही है, किंतु वह बहुत सीमित है। कविता के पाठ में जिस प्रकार सामूहिकता का आग्रह अंतर्निहित होता है, वैसा कहानी में नहीं। पाठ के स्तर पर कविता सामूहिक विधा है, जबकि कहानी या गद्य (इंडिविजुअल विधा) वैयक्तिक विधा होने के कारण ही गद्य रचनाएँ व्यक्ति के भीतर परिवर्तन की प्रक्रिया में लंबी दीर्घकालिकता की मांग करती हैं।

(3)

क्रांतिकारी कविताओं की अंतः प्रक्रिया पद्धति क्या है? क्या एक नायक व्यक्तित्व की केंद्रीयता या अन्य कुछ भी? ''मैंने उसको जब जब देखा/ लोहा देखा/ लोहा जैसे गल ते देखा/ ढलते देखा/ लोहा जैसे/ चलते देखा'' (मजदूर और क्रांति विद्रोही चेतना का संकेत) या ''रानी आओ हम ढोएंगे पालकी/ जय कन्हैया लाल की'' (पराधीनता की वृत्ति पर चोट करने के बहाने) या इसी प्रकार के अन्य उदाहरण...।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रचनाकार और आलोचक

02.02.2017

आज एक प्रिय मित्र से रचनाकार और आलोचक के प्रश्न पर बातचीत हुई। मित्र ने रचनाकार को 'जीवन का गूढ़ अन्वेषक' कहा तथा आलोचक को 'शास्त्र का गूढ़ अन्वेषक'...'बौद्धिक अनुशासक।' रचनाकार के लिए जीवन उसके होने का आधार है...उसकी रचना का नियामक। जीवन रचना का आदि-बिंदु है। यह जीवन गूढ़ है...इस गूढ़ता में जीवन और साहित्य निर्मित होते हैं। आलोचक के लिए भी जीवन अनिवार्य है, बस उसका रास्ता शास्त्र से होकर जाता है...होकर गुजरता है। रचनाकार का आधार जीवन है...आलोचक का आधार शास्त्र है। रचनाकार जीवन से रचना की ओर जाता है और आलोचक शास्त्र से जीवन की ओर। रचनाकार के लिए जीवन की गति, लालित्य आवश्यक है तथा आलोचक के लिए शास्त्र की गूढ़ता, जटिलता। सपाट जीवन से घटिया साहित्य निर्मित होता है। बड़ा साहित्य असमतल जीवन कोणों के संयोजन से निर्मित होता है। इसी प्रकार बड़ी समीक्षा, गहरी इतिहास दृष्टि और वर्तमान के बौद्धिक हस्तक्षेप से निर्मित होती है। आलोचना सामाजिक मांगों का शास्त्रबद्ध अनुशासन होती है। इतिहास की मांगों की रचनात्मक आख्या का परिणाम...। इस ढंग से देखें तो जीवन और उसके गूढ़ प्रश्न आलोचना के लिए भी अनिवार्य हैं, किन्तु सीधा-सादा या प्रत्यक्ष जीवन नहीं। प्रत्यक्ष जीवन आलोचना का अभीष्ट नहीं। आलोचक विचार-बुद्धि-रचना-इतिहास-सभ्यता के बहुकोणों में मनुष्य की गत्यात्मक जीवन चेतना को महसूस करता है। आलोचक जीवन का अनुवर्ती नहीं होता, अपितु वह इतिहास और शास्त्र का रचनानुशासक। आलोचक विचार का अनुवर्ती है। यही कारण है कि जीवन की गतिशील चेतना, जीवन का स्पंदन, लालित्य एक आलोचक को उस रूप में बौद्धिक उत्तेजना प्रदान नहीं करते, जिस प्रकार शास्त्र देते हैं।

रचनाकार गति में जीता है...प्रक्रिया में जीता है। मृत लोगों के जीवन साहित्य के भाग नहीं बनते। स्पंदित धड़कनें साहित्य का भाग बनती हैं। इसीलिए रचनाकार

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

''प्रक्रियामूलक चेतना का नियंता'' होता है। इसके विपरीत आलोचक की दृष्टि इस प्रक्रिया से ज़्यादा जीवन की निष्पत्ति, निष्कर्ष पर टिकती है। आलोचक प्रक्रिया में देर तक नहीं रमता...। वह 'निष्कर्ष' के आलोक में प्रक्रिया को देखता है। आलोचक ''निष्पत्ति का आनुशासिक व्याख्याता'' होता है। रचनाकार जीवन के बनते-बिगड़ते सपनों...दृश्यों, सुख-दु:ख में जिस प्रकार देर तक रमता है, उस प्रकार आलोचक नहीं रमता। आलोचक जीवन को बांधने वाले, दिशा देने वाले भागों को देखता है। जीवन के सुख-दु:ख आदि की नियामक शक्तियों के कारणों एवं प्रभावों की खोज़ इसीलिए आलोचक के लिए अनिवार्य हो उठती है।

रचनाकार के लिए व्यवस्था घातक है तथा आलोचक के लिए अव्यवस्था घातक। व्यवस्थित जीवन-पद्धतियों के बीच अच्छी आलोचना लिखी जा सकती है, अच्छी रचना नहीं। जीवन के असमतल-रूपों के बीच रचना-रूप निर्मित होते हैं। अनुशासन के बीच बड़ी रचना नहीं निर्मित होती। मौलिक चीजें, मौलिक विचार अनुशासन का अतिक्रमण करके निर्मित होती हैं। द्वितीयक चीज़ें, विचार या आवृत्तिमूलक क्रियाएँ अनुशासन के बीच निर्मित होती हैं। प्रेशर कुकर में खाना पकना जैसी क्रियाएँ बाह्य अनुशासन है। किंतु पेड़ों का बढ़ना, भावों की उत्पत्ति, मौलिक विचारों का आना, प्रेम का उदय...आदि किसी अनुशासन से निर्मित नहीं होते। महान भाव-विचार अनुशासन के अतिक्रमण से पैदा होते हैं। नकल, आवृत्ति, कृत्रिमता, छायाप्रति...आदि अनुशासन से निर्मित होते हैं। बच्चों का होमवर्क करना, कक्षा में शांत बैठना...आदि में अनुशासन है। आवृत्ति में अनुशासन है। मौलिकता अनुशासन का अतिक्रमण है। कहने का अर्थ यह है कि रचना जब तक जीवन की अव्यवस्था, विद्रोह, असंगति, अंतराल, अभाव के बीच निर्मित नहीं होती, तब तक उसमें प्राण, सजीवता, स्पंदन नहीं होता। किन्तु आलोचना के लिए व्यवस्था चाहिए। आलोचना बौद्धिक व्यवस्था के क्रम में विकसित अनुशासन है। आलोचना की पद्धति स्वयं में एक अनुशासन है। वैसे तो रचना भी एक अनुशासन ही है, किन्तु उसके बनने का आधार जीवन की अव्यवस्थित स्थितियाँ हैं। ''समतल रागों में उन्नत साहित्य नहीं निर्मित होते।''

रचनाकार को 'अनुभव' पर विश्वास करना आना चाहिए और आलोचक को शास्त्र पर...। रचनाकार शास्त्र तो पढ़े, किन्तु वह उससे पलायन भी करता चले...। एक रचनाकार को शास्त्रों से अपेक्षित दूरी रखनी चाहिए। किन्तु आलोचक को यथासंभव शास्त्र के पास रहना चाहिए। आलोचक 'शास्त्र का उपजीवक' है। उसके लिए यदि कोई अनुभव है तो मात्र इस अर्थ में कि वह शास्त्र और जीवन के सम कोणीय बिंदुओं की तलाश कर सके। 'अनुभव' आलोचक का 'शास्त्रबद्ध अनुभव' होता है। कबीर जब कहते हैं कि 'तू कहता कागद की लिखी, मैं कहता आँखिन की

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

देखी' तो वे शास्त्रज्ञ को चुनौती देते हैं। यह एक कवि को एक शास्त्रज्ञ को चुनौती है। किंतु शास्त्रज्ञ और आलोचक में फ़र्क होता है। आलोचक शास्त्र और जीवन की एका का केन्द्रण करता है। शास्त्र उसकी तात्कालिक उत्तेजना है और जीवन शाश्वत जीवनबोध।

रचनाकार शाश्वत पाठक के लिए लिखता है और आलोचक? आलोचक के लेखन में भी क्या पाठक होते हैं? निश्चित रूप से...। क्योंकि आलोचक भी साम्वेदनिक साहचर्य के सिद्धांत का प्रवक्ता होता है। संवेदना के सातत्य से जिस प्रकार एक रचनाकार जुड़ता है, उसी प्रकार एक आलोचक भी जुड़ता है। इस दृष्टि से रचनाकार-आलोचक संवेदना साहचर्य के दो सिरे हैं। समस्या यह होती है कि एक रचना में पाठकीय संवेदना जिस प्रकार स्पष्ट होती है, उसी प्रकार एक आलोचना में नहीं होती। आलोचना का पाठक अमूर्त होता है। शास्त्र और विचार में अमूर्तता के अंश प्रभावी होते ही हैं। हालांकि इनमें भी ठोस यथार्थ होता है। इस ढंग से आलोचक 'पद्धति रूपी पाठ' निर्मित करता है। रचनाकार की तरह आलोचक शाश्वत पाठक जैसी धारणा से बद्ध होकर आलोचना नहीं लिखता। आलोचक पाठ का वैयक्तिक और तात्कालिक पाठ निर्मित करता है। उसके केंद्र में पाठक नहीं रहता, पाठ या कथ्य रहता है।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कलाकार और आलोचक

07.04.2017

कलाकार सूक्ष्म संवेदन, गत्यात्मक जीवन स्पंदनों में जीता है...। उसके लिए जीवन के गूढ़ सिद्धांत से ज़्यादा जीवन की गत्यात्मक स्थिति महत्वपूर्ण होती है। इसीलिए बड़ा दार्शनिक अच्छा कलाकार नहीं बन पाता, क्योंकि वह जीवन को अमूर्त सिद्धांतों में बांधना चाहता है। कलाकार जीवन के मूर्त और गतिशील जीवन पक्षों का प्रवक्ता होता है। अमूर्तता में शांति है, मूर्तता में गति है।

कलाकार जीवन-गति में विश्वास रखता है और दार्शनिक जीवन गति के अभिराम-विराम में। और आलोचक? आलोचक न तो कलाकार की तरह संवेगों में लिप्त होता है और न दार्शनिक की तरह अमूर्त भाव में संकेंद्रित...। वह भाव-संवेदनों को सैद्धांतिक ढंग से देखता है...वस्तुनिष्ठ ढंग से देखता है(एक हद तक)। वह जीवन की गति को सिद्धांत में बांधना चाहता है। कलाकार जीवन की गति को देखता है और आलोचक निष्पत्ति को। इन सब में दार्शनिक उस गति-निष्पत्ति को 'शाश्वत बोध' के स्तर पर व्याख्यायित करता है। एक (कलाकार) के केंद्र में जीवन है, दूसरे (आलोचक) के केंद्र में सिद्धांत है और तीसरे (दार्शनिक) के केंद्र में जीवन-दर्शन।

कलाकार जीवन को मनोदशाओं में पकड़ता है...। वह मनोदशाएँ नैतिक भी हो सकती हैं और अनैतिक भी...और बहुधा दोनों के रूप में भी। उदाहरण के रूप में प्रेमचंद के क़फ़न में घीसू-माधव को नैतिक बनाने की चिंता प्रेमचंद को नहीं है। घीसू-माधव की मनोदशा (व्यापक रूप में समाज की) को पकड़ना रचनाकार का उद्देश्य है। उसके केंद्र में जीवन और चरित्र की एक-दूसरे के प्रति प्रतिक्रिया है और आलोचक की चिंता के केंद्र में वे मनोदशाएँ गौण हैं...। उसकी दृष्टि में उन मनोदशाओं की उत्पत्ति की कारक स्थितियों और रचना (कथ्य) के स्तर पर उनके रूपांतरण की समस्या मुख्य है।

कलाकार का दृष्टिकोण आंतरिक भाव-स्फोट से संयोजित होता है...और इस

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

प्रक्रिया में कथ्य भी जुड़ जाता है। कलाकार कथ्य से भाव नहीं लाता, भाव में कथ्य जोड़ता है। इसके विपरीत आलोचक कथ्य में भाव जोड़ता है। इसीलिए आलोचक का व्यक्तित्व कथ्यगत होता है। कलाकार को चिंता नहीं होती कि वह अपने भावों में अपने व्यक्तित्व को कैसे संयोजित करे...यह प्राकृतिक है। कलाकार अमूर्तन में जीता है...और अपनी इस पीड़ा को मूर्त रूप देकर...अभिव्यक्त करके मुक्त होता है। आलोचक मूर्त जीवन चित्रों के बीच जीता है और फिर उसे अमूर्त (सैद्धांतिक) करता है। कलाकार अमूर्त जीवन चित्रों के बीच रहकर..जीकर मूर्त रूप-विधान की ओर आता है। सच्चा कलाकार ''अमूर्त संभावनाओं का प्रवक्ता'' होता है।

कलाकार वस्तु जगत की छवियों के प्रति उसके मन में हुई प्रतिक्रिया को महत्व देता है। इस छवि-प्रतिक्रिया का तात्पर्य निहायत कोरा भावुकतावाद नहीं है, अपितु इसे कलाकार की संवेदनात्मक प्रतिक्रिया के रूप में देखा-समझा जाना चाहिए। प्रश्न इस संवेदनात्मक प्रतिक्रिया पर उठता है। कलाकार की दृष्टि जीवन के विषम पक्षों पर जाती है...और इन पक्षों के प्रति वह संवेदनात्मक प्रतिक्रिया करता है। आलोचक कथ्य के प्रति वैचारिक प्रतिक्रिया करता है। कलाकार मुक्तिबोध के संवेदनात्मक ज्ञान पद के करीब है। हाँ पूरी तरह से वह संवेदनात्मक ज्ञान की कोटि में नहीं आता। कारण यह कि कलाकार की 'संवेदनात्मक प्रतिक्रिया' किसी ज्ञानात्मक निष्कर्ष से ज़्यादा प्रतिक्रिया, प्रक्रिया से ज़्यादा प्रभावित होती है। मुक्तिबोध के पद को मैं 'संवेदनात्मक प्रतिक्रिया' और 'वैचारिक प्रतिक्रिया' कहना पसंद करूंगा।

कलाकार 'भाव-दर्शन' निर्मित करता है और आलोचक 'वैचारिक-दर्शन।' कलाकार के भाव-संवेग को आलोचक वैचारिक रूप देकर वस्तुनिष्ठ वैशिष्ट्य प्रदान करता है। इस प्रकार कलाकार की यात्रा और आलोचक की यात्रा एक-दूसरे के अनुवर्ती सापेक्ष रूप में चलती है। कलाकार के संवेग को आलोचक आगे बढ़ाता है और आलोचक के मूल्यांकन को काल की धारा में सहृदय। यह संवेदना का सातत्य है।

हर कला अधूरी होती है। इस अधूरेपन के बीच आलोचक का जन्म होता है। एक बड़ी रचना हो या बड़ी आलोचना वह अधूरे आख्यान का मिथ है। महत्वपूर्ण चीजें पूर्ण होने के भ्रम से मुक्त होती हैं। कई प्रकार के अर्द्ध सत्यों, अर्ध भावों के बीच कलाकार एक भाव संवेग की रेखा खींचता है। इन्हीं आख्यानों के बीच आलोचक उन पाठों का प्रवक्ता होता है। कला भाव की एकरेखीय मनःस्थिति है और आलोचना उस रेखीय मनःस्थिति का बहुरेखीय कोण। प्रश्न क्लिष्ट है। थोड़ा अनसुलझा भी। कलाकार का होना अधूरा मिथ है और आलोचक इस मिथ का वैचारिक भाष्य।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कथेतर विधाओं का सौंदर्यशास्त्र-प्रस्तावना

10.06.2017

आज एक प्रिय मित्र से कथेतर विधाओं पर बातचीत हुई। मित्र ने वर्तमान युग को कथेतर साहित्य का युग कहा। मित्र के अनुसार सामंतवाद में पद्य, आधुनिक काल में कथा साहित्य और उत्तर-आधुनिकता की केंद्रीय विधा कथेतर साहित्य है। मुझे लगा कि मित्र की बातों को व्याख्यायित किये जाने की आवश्यकता है। क्या वाकई कथेतर साहित्य आज की 'साहित्यिक केंद्रीय संरचना' है? या इसे हम मात्र सरलीकरण के रूप में देखें? हम जानते हैं कि साहित्यिक विधाओं का रूपांतरण एक जटिल संरचना के तहत अस्तित्व लेता है। यह रूपांतरण आधुनिक काल से प्रारंभ होता है और उत्तर-आधुनिकता में अपने चरम पर पहुँचता है।वैसे तो चम्पू काव्य और नाटक काव्य के रूपांतरण के उदाहरण भी यदा-कदा मिल जाते हैं, किन्तु यह सब कवि/रचनाकार की प्रयोगधर्मिता के ऊपर ज़्यादा निर्भर करता है, विधा/अनुशासन की दृष्टि से सर्वमान्य तथ्य नहीं। बावजूद यह तथ्य समझने योग्य है कि मानवीय प्रकृति ''रेखाओं के रूपांतरण'' की होती है। चित्रकला में जैसे रेखाएँ एक-दूसरे को एक ख़ास बिंदु पर काटती हैं...जैसे साहित्य में भाव एक-दूसरे में रूपांतरण करते हैं...जैसे स्वर-लहरियाँ या ध्वनियाँ एक-दूसरे में रूपांतरित हो जाती हैं...वैसे ही ''सिद्धांत का अनुशासन'' भी समरेखीय पद्धति पर नहीं चला करता। साहित्य हो या जीवन, उसकी गति सीधी नहीं होती। उसकी गति वर्तुलाकार होती है। जीवन जैसे-जैसे जटिल होता जायेगा, वैसे-वैसे भाव-संरचना की अभिव्यक्ति भी रूपांतरण की प्रक्रिया से अधिकाधिक संचालित होती जायेगी। कथेतर विधाओं का आगमन आधुनिक युग की मनःस्थिति और उसकी निष्पत्ति है, किन्तु कथेतर विधाओं की रचनागत केन्द्रीयता जटिल मन का रूपांतरण है।

इधर कुछ-एक वर्षों की रचनाओं में विधागत संकट का प्रश्न उपस्थित हुआ है। एक ही रचनाकार कई विधाओं का प्रभाव महसूस किया गया है। यह प्रभाव जन, समाज और रचनाकार के भीतर की अस्पष्टता नहीं है, अपितु जटिलता और

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अभिव्यक्ति के बीच के द्वंद्व से उत्पन्न हुआ है। यदि गद्य आधुनिक साहित्यिक जीवन की विवशता है तो कथेतर साहित्य उत्तर-आधुनिक मन और साहित्य की केंद्रीय धुरी। कविता में कहानी या नाटक के तत्व होते हैं...यही स्थिति कहानी, उपन्यास के संदर्भ में भी है, किन्तु ये सब विधाएँ रचना तत्व के आधार पर दूसरी विधाओं का प्रभाव ग्रहण करती हैं, उनके अनुशासनों को अपने अनुशासन के साथ मिलाती नहीं हैं। आज का कथेतर साहित्य प्रभाव ग्रहण करने से काफ़ी आगे बढ़ गया है। आज का कथेतर साहित्य एक अनुशासन से दूसरे अनुशासन के रूपांतरण पर टिका हुआ है।

आज का समय साहित्य पर यथार्थ के दबाव से ज़्यादा यंत्र के दबाव का अधिक है। यंत्र की अधिकता, दबाव ने मनोभावों को और जटिल बना दिया है...इसलिए हमारे जीवन में...साहित्य पर कल्पना का प्रभाव कम हुआ है। कथेतर साहित्य ''कल्पना पर यथार्थ'' के अनुशासन व प्रभुत्व का साहित्य है। कहने का अर्थ यह है कि आज की कल्पना यथार्थ के माध्यम से प्रकट हो रही है। कल्पनामूलक साहित्य (कविता, कथा साहित्य) में कल्पना के आवरण में यथार्थ का आगमन होता है। यह यथार्थ में कल्पना का विस्तार है। कथेतर साहित्य ''यथार्थ की तुला पर कल्पना की वितान का अनुशासन है।'' यथार्थ अपने प्रकट रूप में उतना सृजनात्मक नहीं बनता, जितना वह हो सकता है। आत्मकथा, जीवनी, रिपोतार्ज़, आलोचना...जैसी विधाएँ प्राथमिक रूप में यथार्थमूलक होती हैं। इस दृष्टि से कथा साहित्य या कविता अपने प्राथमिक रूप में 'कल्पनामूलक' होता है।

कथेतर साहित्य का सौंदर्य एक साथ कई भावों के सम कोणीय आरोहण पर टिका हुआ है। इस अनुशासन में एक भाव की दीर्घकालिक रेखीयता नहीं होती...अपितु थोड़ी दूर जाकर अपने मार्ग, अपनी सरणि में परिवर्तन करने वाली प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति के कारण कल्पना की उड़ान बहुत देर तक नहीं चल सकती। एक भाव जब दूसरे भाव में अतिक्रमण करते हैं तो (प्रायः) दो अलग-अलग तरह के भाव-अनुशासन (विधा) एक बिंदु पर मिलते हैं। यह बिंदु नए प्रकार की संरचना को जन्म देता है। जब हम कहते हैं कि अमुक रचनाएँ विधागत अतिक्रमण कर सकी हैं तो हम नहीं समझ पाते कि आख़िर ऐसा क्यों हुआ है? इस अतिक्रमण का एक और भी तात्विक कारण है। आज का लेखक अपनी अनुभूति को लंबी कल्पना के पंख नहीं दे पा रहा है, क्योंकि हम छोटी-छोटी अनुभूतियों (मनोभावों) के एक सीमित क्षण/भंगिमा में जी रहे हैं। ये अनुभूतियाँ अपनी कल्पनात्मक उठान या विस्तार तक पहुँचे, इससे पूर्व ही वे स्थूल घटनाओं का आश्रय ले लेती हैं। इसका कारण यंत्रमूलक कल्पना भी है और सभ्यता का गति-क्रम भी। जैसे यथार्थ की कल्पना अतिरंजना पैदा करती है, वैसे ही कल्पना का यथार्थ साहित्य का आधार बनता है...उसी प्रकार

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कथेतर साहित्य की कल्पना यथार्थमूलक है।

कथेतर विधा में नये-नये अनुशासन बनते जाएंगे, किन्तु ऐसा कविता, कथा साहित्य और नाटक के संदर्भ में नहीं हो रहा है। नाटक की ढेरों विधाएँ थीं, जो आज लुप्तप्राय: हो चली हैं। एक तरह से इसे हम नाटकीय संभावनाओं का संकोच समझ सकते हैं। कविता के संदर्भ में लंबी कविता और छोटी कविता के विभाजन हुए...और यही स्थिति उपन्यास और कहानी के संदर्भ में भी हैं। जिनमें प्रयोग शिल्प के स्तर पर पर्याप्त हुए हैं, किन्तु विधागत अनुशासन के आंतरिक स्वरूप को लेकर वर्गीकरण कम हुए। कथेतर साहित्य में सर्वाधिक अनुशासन बने और यह प्रक्रिया आगे भी चलती रहेगी; क्योंकि इसने अनुशासन के स्तर पर अपने को बांधा नहीं है। कथेतर खुले मन का अनुशासन है...इसलिए विधा के स्तर पर इसमें हमेशा संभावना बनी रहती है। आज के जटिल जीवन मनुष्य की भावाभिव्यक्ति यदि नए मार्ग की तलाश करेगी तो वहाँ कथेतर साहित्य की आंतरिक संरचना बाधक नहीं है, अपितु सहयोगी है; क्योंकि इसने अपनी संरचना को बांधा नहीं है।

आधुनिक साहित्य में नई-नई विधाओं का आगमन हुआ, क्योंकि आधुनिकता ने विचारों को भाव-प्रकाश के नये मार्ग दे दिए। उसी प्रकार उत्तर-आधुनिकता में नये-नये कथेतर अनुशासन नहीं आ पा रहे हैं। प्रश्न है कि ऐसा क्यों हो रहा है? आज विधाओं का संक्रमण तो हो रहा है, किन्तु नई विधाओं का आगमन नहीं; कारण यह कि आधुनिकता की तरह आधारगत (बेस) परिवर्तन नहीं हुए...और यदि दिख भी रहा है तो प्रच्छन रूप में। आज के अधिकांश परिवर्तन अधिरचना के स्तर पर हुए हैं या मानसिक रूप में...इच्छा के स्तर पर...प्रभाव के स्तर पर। आज का अधिकांश परिवर्तन इच्छा और उपभोग का यांत्रिक विस्तार बनकर रह गया है। इन सब के कारण ही रचनाओं में संक्रमण और अतिक्रमण की प्रवृत्ति है, नये भाव-प्रकाशन के अनुशासन रूपांतरण की प्रक्रिया नहीं। कहने का अर्थ यह है कि विधा के स्तर पर कथेतर साहित्य के विस्तार (नयी विधाएँ) न हो पाने के तात्विक कारण हैं।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रचनाकार और आलोचक की आलोचना दृष्टि

07.08.2017

(1)

संसार के आलोचना संसार में कवि/ रचनाकारों द्वारा की गयी आलोचनाएँ अपनी आत्मनिष्ठ दृष्टि के कारण विचारोतेजक एवं प्रामाणिक रही हैं, बावजूद उनकी आलोचना को बहुत गंभीरता से नहीं लिया गया। इसका कारण क्या है? क्या उनकी आलोचना वैचारिकता से हीन रही हैं? या उसमें तार्किकता का अपेक्षाकृत अभाव रहा है? इन प्रश्नों के उत्तर से पूर्व हम आलोचना के प्रमुख गुणों को समझें। ''आलोचना किसी कृति के बहाने अपनी सभ्यता-संस्कृति को देखने का बौद्धिक-तार्किक अनुशासन है।'' यानी यह किसी 'रचना की केन्द्रीयता' से प्रारंभ होती है या उस पर आधारित होती है। इसका ध्येय सभ्यता-संस्कृति की समीक्षा या मूल्यांकन करना होता है तथा यह बौद्धिक-तार्किक एवं वस्तुनिष्ठ ढंग से अपने मत को रखने वाला अनुशासन/ पद्धति है। यही वह कुछ बिंदु हैं जो संसार के प्राय: बड़े आलोचकों में सार्वभौमिक रूप से मिलते हैं। यह आलोचना के अंतिम निकष नहीं हैं और न एकमात्र गुण...इसलिए भी इसके अतिरिक्त आलोचना की 'अपनी सैद्धांतिकी' रही है तथा आलोचना का व्यवहार भी। ज़ाहिर है कवि/ रचनाकारों द्वारा की गई आलोचनाएँ भी ''अतिरिक्त आलोचना'' का भाग बनी रहीं, किन्तु ''महत्वपूर्ण भाग...।'' हिंदी आलोचना में पन्त, निराला, प्रसाद की आलोचनाएँ हों या मुक्तिबोध-अज्ञेय-निर्मल की आलोचनाएँ या नई कहानी के दौर में 'नई' कहानीकारों की भूमिकाएं-आलोचनाएँ...। मुझे तो मुक्तिबोध की आलोचना किसी भी दृष्टि से किसी प्रसिद्ध आलोचक की आलोचना से कमज़ोर नहीं लगती। बावजूद मुक्तिबोध, अज्ञेय जैसे रचनाकारों की आलोचना पर स्वतंत्र रूप से कार्य कम हुआ...या वह कार्य लोकप्रिय न हो सका। इसका कारण क्या यह रहा है कि रचनाकारों की आलोचनाएँ प्राय: अपनी 'रचना को स्पष्ट' (डिफेंड) करने के क्रम में रचित हुई हैं? याद करें जब पंत को 'पल्लव' की लंबी भूमिका (पल्लव का 'प्रवेश', घोषणा पत्र) लिखनी पड़ी या प्रसाद को रहस्यवाद की भारतीय पृष्ठभूमि के साक्ष्य जुटाने पड़े। यह

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कुछ वैसा ही था, जैसे रोमांटिसिज्म आंदोलन में वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज को 'लिरिकल वैलेडस' के माध्यम से उसका घोषणा पत्र लिखना पड़ा था। यही स्थिति प्रयोगवाद और नई कहानी आंदोलन के प्रयोक्ताओं के सामने भी थी। बाद में तो ढेरों आंदोलन चले और रचनाकारों द्वारा उसके घोषणा पत्र भी लिखे गए। क्या कवि द्वारा की गई आलोचना कवि की अपनी रचना-प्रक्रिया को स्पष्ट करने के प्रयास में या कवि द्वारा ''स्वयं की रचना'' को स्पष्ट करने के प्रयास में कमज़ोर हो जाती है? यदि हम इस तर्क को स्वीकार करते हैं कि आधुनिक आलोचना के लिए 'कृति की केन्द्रीयता' अनिवार्य है, तो फिर यह कैसे स्वीकार कर सकते हैं कि कवि द्वारा अपनी कृति पर की गयी टिप्पणी कमज़ोर होगी? यहाँ दोनों तथ्यों में एक बुनियादी अंतर यह है कि आलोचक की आलोचना में कृति 'बहाने के रूप' में या 'प्रस्थान के रूप' में आती है, किन्तु रचनाकार की आलोचना में कृति 'सम्पूर्णतः अपनी केन्द्रीयता' में विद्यमान रहती है। यदि कोई रचनाकार अपने से संबंधित साहित्यिक आंदोलन पर भी विचार करता है तो वह उस आंदोलन की केंद्रीय भूमि और अपनी कृति के संदर्भ में ही प्रमुखतः बात करता है। इस प्रक्रिया में कवि प्रायः 'आत्मनिष्ठ ढंग से' रचना को देखने का प्रयास करता है। अतः ऐसी आलोचना प्रायः एक 'अनुभूति' (कवि की अपनी अनुभूति) की अभिव्यक्ति बनकर रह जाती है। जबकि आलोचक अपनी 'अनुभूति का सार्वभौमिकरण' करता है। वह कई अनुभूतियों का सार्वभौमिकरण करता है। वह कई 'अनुभूति का संयोजन' करता है। इस ढंग से कवि/ रचनाकार की आलोचना में भले हो मौलिक दृष्टि की तीव्रता हो, किन्तु वह वस्तुनिष्ठ प्रायः नहीं हो पाती। जबकि आलोचना की प्रधान शर्त उसकी वस्तुनिष्ठता से जुड़ी हुई है। ''यानी रचनाकार वैयक्तिक अनुभूति के आलोक में समाज को देखता है तो आलोचक विभिन्न अनुभूतियों के संयोजन क्रम'' में। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि रचनाकार जिस आंदोलन से जुड़ा रहता है। वह उससे पृथक होकर, समय से मुक्त होकर अपनी आलोचना को नहीं रख पाता; किन्तु एकं आलोचक के लिए इस प्रकार की समय बाध्यता नहीं है।

(2)

आलोचना में अभी तक रचनाकार द्वारा की गई आलोचना व आलोचक द्वारा की गई आलोचना को विपरीत ढंग से या अलग-अलग ढंग से देखने की परिपाटी रही है। क्या यह अच्छा न होता कि कोई शोधार्थी पंत-निराला की आलोचना के साथ रामचंद्र शुक्ल, डॉ. देवराज, नंददुलारे बाजपेयी, नामवर सिंह...इत्यादि की आलोचना को देखने का प्रयास करता। इस तरह के प्रयास हुए तो हैं, किन्तु फुटकल रूप में..बिखरे रूप में या असंबद्ध रूप में। इसका कारण खोजना भी कठिन नहीं है। रचनाकार द्वारा की गई आलोचनाएँ प्रायः अपनी रचना को 'डिफेंड' करने या अपने

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

काव्यान्दोलन की मूल स्थापना की दृष्टि में विकसित हुई हैं। इस दृष्टि से ये कवि/रचनाकार या तो अपने समकालीन आलोचकों से विपरीत मत रखते थे या उनकी आलोचना से असंतुष्ट थे। इस ढंग से डायरी शिल्प में कई गयी मुक्तिबोध की आलोचना विशेष रूप से हमारा ध्यान खींचती है। मुक्तिबोध की ये आलोचनाएँ व्यावहारिक आलोचना में न आएंगी। हाँ आप चाहें तो इसे 'सैद्धांतिक आलोचना' कह सकते हैं। किंतु यह सैद्धांतिकी उस सिद्धांत-निरूपण से बहुत भिन्न है, जो रस ग्रहीता के आस-पास विकसित हुई थी। इसमें केवल रचना और पाठक की एकांत साधना नहीं है, अपितु जीवंत-गतिशील समाज भी है।

(3)

रचनाकार और आलोचक की आलोचना दृष्टि के पार्थक्य का एक बड़ा कारण दोनों की आलोचना-पद्धति है। रचनाकार की आलोचना प्रायः 'रचना की प्रक्रिया' या उसके अवयवों को अपने मूल्यांकन बिंदु में पार्श्व (अनुपस्थित नहीं) में कर देती है। वह मुख्य रूप से 'रचना के प्रभाव' के आधार पर अपना मूल्यांकन (प्रभावात्मक आलोचना नहीं...) करता है। चूंकि वह स्वयं रचनाकार है, अतः उसकी दिलचस्पी का तथ्य रचना-प्रक्रिया नहीं है। वह रचना के बनने की प्रक्रिया को समझता तो है, किन्तु उसका उल्लेख करना उसे जरूरी नहीं लगता। इसका कारण यह है कि एक तो वह उस प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है, दूसरे उसके पाठक प्रबुद्ध होंगे; वह यह मानकर चलता है। किंतु इसके विपरीत आलोचक रचना के प्रभाव को उसकी अंतर्वस्तु में समाविष्ट करके देखता है। एक आलोचक अपनी आलोचना-प्रक्रिया में रचना को संपूर्णता में देखना पसंद करता है। उसे मालूम है कि उसकी आलोचना का पाठक सामान्य पाठक भी है, जिसे उसे रचना की समझ प्रदान करनी है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि आलोचना की प्रक्रिया या पद्धति रचना को संपूर्णता में देखने में निर्मित होती है। (जैसा कि उसके शाब्दिक अर्थ से भी यही लक्षित होता है)। तो जब किसी रचना को संपूर्णता में देखने का प्रयास किया जाता है तो रचना के विभिन्न अवयवों/ घटकों की समीक्षा आवश्यक हो उठती है। अतः जब कोई आलोचक किसी रचना की समीक्षा के लिए तत्पर होता है तो उसका ध्येय रचना के विभिन्न घटकों को एक सूत्र में देखने का होता है। यानी वह रचना के विभिन्न घटकों के बीच एक अन्तरसूत्र तलाश करने का कार्य करता है। और इसी अन्तरसूत्र तलाश की व्यवस्थित प्रक्रिया के बीच आलोचना निर्मित होती है। यानी आलोचक की आलोचना दृष्टि एक व्यवस्था, अनुशासनबद्ध पद्धति से चलती है। जबकि रचनाकार की आलोचना विशेषतः अपनी अनुभूति के आलोक में तय होती है।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

प्रेम और प्रेरणा का प्रश्न...

05.10.2017

(1)

आज एक मित्र ने प्रश्न किया कि पुरुष रचनाकारों के लिए जिस प्रकार कोई स्त्री रचना-प्रेरणा बनती है, उसी प्रकार स्त्री रचनाकारों के लिए 'कोई पुरुष' रचना की प्रेरणा क्यों नहीं बनता? यह प्रश्न इतना निश्च्यात्मक मुद्रा में पूछा गया था...अत: मुझे इसका कोई तात्कालिक उत्तर न सूझा। महत्वपूर्ण बिंदु यह है कि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि स्त्री रचनाकारों के लिए कोई पुरुष प्रेरणा रूप में उपस्थित नहीं होता। आधारभूत रूप में यह प्रश्न स्त्री के अंतर्मुखी स्वभाव(?) तथा स्त्री की आंतरिक क्रियाशीलता से भी जुड़ा हुआ है।

एक पुरुष रचनाकार अपनी प्रेरक भूमि (प्रेरणा) का जिस प्रकार ढिंढोरा पीटता चलता है, वैसा एक स्त्री नहीं करती। [कुछ अपवाद हैं...] पुरुष अपनी कामुकता, चरित्रहीनता, बेवफ़ाई को भी तार्किक रुप में...ग्लोरीफाई रूप में प्रस्तुत करता है। इसीलिए उसकी रचना-प्रेरणा अक्सर ''पर-स्त्री'' (रवीन्द्रनाथ टैगोर की कविताओं का अध्ययन करें...उनकी कई कविताओं की प्रेरक भूमि ''पर स्त्री'' रही हैं...) बनती रही हैं। (रीतिकाल पुरुष के परकीया प्रेम से पटा पड़ा है...)। तब राजेन्द्र यादव जैसे अध्येता जब मांसल रूप में उसे ''ऊर्जा के सोते'' के रूप में देखते हैं,तो उनकी विवशता समझी जा सकती है। पुरुष का मूल स्वभाव बहिर्मुखी (हालांकि मैं अपने को अंतर्मुखी ही मानता हूँ...बावजूद) होता है...उसे बाह्य बिम्बों की तलाश हमेशा रहती है। इसीलिए किसी स्त्री को जब वह देखता है तो वह स्त्री उसे बिम्ब रूप में ढलती हुई प्रतीत होती है..प्रश्न है कि एक स्त्री के लिए पुरुष प्रेरणा का विषय नहीं बन सकता? जैसा कि हमने कहा कि स्त्री रचनाकारों के लिए ''आतंरिक क्रियाशीलता के भीतर बाह्य बिम्ब सिमट जाते हैं....किसी पुरुष की प्रेरणा उसके लिए आत्मिक-संवेगात्मक'' तो बनती है, किन्तु वह उसकी रचना की अंत: प्रेरणा नहीं बन पाती। किसी पुरुष के लिए कोई स्त्री जिस प्रकार बिम्ब रूप में (शारीरिक धरातल से होते हुए संवेग तक...) आती है, वैसा किसी स्त्री के लिए कोई ''पर-

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पुरुष'' नहीं आता। स्त्री की प्रेरणा में ''पुरुष का रचना-कर्म'' भले ही हो, किन्तु वह ''प्रभाव-रूप'' में ही आता है...रचना प्रेरक रूप में नहीं। क्या इसके पीछे स्त्री पर सामाजिक दबाव का प्रश्न है...जिसमें कोई स्त्री अपने प्रेम या पुरुष-प्रेरणा के प्रश्न को सार्वजनीन नहीं कर पाती या उसकी मानसिक स्थिति है, जिसके अनुसार कोई पर-पुरुष उसे 'रचना-प्रेरणा' के लिए प्रेरित नहीं कर पाता? वज़ह जो भी हो...चूंकि इस विषय पर मैं प्रामाणिक रुप से कुछ कह सकने की स्थिति में नहीं हूँ, इसलिए केवल कल्पना और अनुमान का प्रयोग ही कर पा रहा हूँ। यह भी जिज्ञासा का विषय हो सकता है कि ''प्रेम कविता'' लिखने वाले रचनाकारों में स्त्री रचनाकारों की उपस्थिति कितनी रही है? ''प्रेम'' जैसे विषय पर पुरुष जिस प्रकार साधिकार (कई बार दिग्विजय भाव में...) लिखता है, उस प्रकार प्रायः स्त्री लेखिकाएँ नहीं लिखतीं...। क्या वे प्रेम नहीं करतीं या उनमें पुरुषों की तरह दिग्विजयी मुद्रा नहीं होती? ज़ाहिर है एक पुरुष रचनाकार किसी स्त्री से मिलने के वृत्त-चित्र, ब्यौरे जिस प्रकार श्रृंखला-रूप में लिखता है, वैसा एक स्त्री रचनाकार नहीं करती। कई भाव सघन अनुभूति के रूप में ही सार्थक हो पाते हैं...स्त्री ''सघन अनुभूति'' को संजोना जानती है...। पुरुष कई बार आत्म प्रदर्शन करने की सामंती मानसिकता (आखेट संस्कार...) में अपने ''बेवफ़ाई'' को भी प्रेम कह बैठता है तथा राग को प्रेरणा।

यहाँ बनारस में देखा गया एक दृश्य याद आ रहा है। एक रिक्शे पर एक विवाहित स्त्री जा रही है। स्त्री का रंग दूधिया गोरा है...माथे पर एक बड़ी-सी बिंदी...साड़ी के पल्लू खिसक-से गए हैं...उसकी आँखें कहीं खोई-सी हैं...बेहद अनमने भाव, थोड़े लापरवाह या उदासीन भाव से वह देख रही है...रूप गठन की दृष्टि से उसे सुन्दर कहा जा सकता है...किन्तु उससे ज़्यादा आकर्षक...यह एक दृश्य था। उसी के समानांतर दूसरा दृश्य चल रहा था। एक साहित्यकार की निगाहें स्त्री के अल्हड़पन में खोई हुई थीं। वह उसे तब तक देखता रहा जब तक कि रिक्शा ओझल नहीं हो गया। ज़ाहिर है लेखक की निग़ाहें स्त्री के सौंदर्य और उसके मन में बन रहे बिम्बों को दर्शा रही थीं। तीसरे धरातल पर उन दोनों दृश्यों का द्रष्टा मैं था। मेरे लिए यह कल्पना करना बहुत मुश्क़िल नहीं था कि लेखक की निग़ाह अपने बिम्ब में खोई है...ज़ाहिर है बिम्ब तलाश, निर्माण और उसे अभिव्यक्त करने की पूरी छूट उस पुरुष लेखक को मिली हुई है। यदि उसी प्रकार से बिम्ब तलाश, निर्माण और अभिव्यक्ति के त्रैत से कोई स्त्री रचनाकार गुज़रे तो समझा जा सकता है कि हम उसकी व्याख्या किस प्रकार करेंगे। रवीन्द्रनाथ टैगोर संबंधी एक संस्मरण पढ़ा था,जिसके अनुसार ट्रेन के सफ़र के दौरान महाकवि एक विवाहित स्त्री की सुंदरता को निहार रहे थे। पति के क्रोधित होने पर उन्होंने दुःख प्रकट करते हुए कहा कि

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

''तुमने सौंदर्य की हत्या कर दी...मैं तो उसके सौंदर्य को देख रहा था...।'' प्रश्न है कि क्या हमारे समाज में सौंदर्य को निहारने भर की छूट किसी स्त्री (स्त्री रचनाकार) को है? और यदि यह छूट नहीं है तो उसकी प्रेरणा में पुरुष हो भी तो क्या फ़र्क पड़ेगा, क्योंकि उसे वह अपनी कविता का विषय तो बनाने से रही...।

संसार की प्राय क्लासिक प्रेम कहानियों, कविताओं (साहित्य) के लेखक पुरुष रहे हैं...कारण क्या है? क्या इसका स्थूल कारण यह है कि ''स्त्री का आलंबन रूप'' पुरुष के साथ ही स्त्री को भी प्रिय है? या इसकी मुख्य वज़ह यह है कि ''प्रेम साहित्य'' में भावों को जितने व्यापक रूप में फैलाना पड़ता है...उसके रग-रेशे को जिस प्रकार अलग करना पड़ता है...उसे एक स्त्री रचनाकार की अपेक्षा पुरुष रचनाकार ज़्यादा इत्मीनान से करता है। छायावाद काल के जयशंकर प्रसाद और महादेवी वर्मा के उदहारण लें। महादेवी वर्मा के साहित्य में ''प्रेम मनोभाव'' के ऊपर जिस प्रकार रहस्य का धुंधलका छाया हुआ है, वैसा प्रसाद के साहित्य में नहीं। यही कारण है कि जयशंकर प्रसाद ने कई सुन्दर प्रेम कहानियाँ, कविताओं की सृष्टि की। सुमित्रनंदन पंत की भी कई प्रेम कवितायें इसीलिए महत्वपूर्ण बन सकीं, क्योंकि उन्होंने ''प्रेम के प्रकृत स्वरूप'' को बनाये रखा है (कुछ लोगों के लिए शुद्ध स्वछंदतावाद)। महादेवी वर्मा की प्रतिभा में कोई संशय नहीं है...। उनके पास साहित्य की विधा है। साहित्य में ''परकाया प्रवेश'' का सिद्धान्त चला ही करता है...। अत: सीधे-सीधे साहित्य की अनुभूति को स्वयं लेखक की अनुभूति कहने की मूर्खता शायद ही कोई करे (हालाँकि मूर्खों की कोई कमी नहीं है...)। बावजूद इसके उस समय तक हिंदी साहित्य में ''मैं'' शैली समुन्नत रुप में स्थापित नहीं हो पायी थी। अत: महादेवी जी के ''रहस्य'' को समझा जा सकता है। फ़िर भी इस तथ्य को ओझल नहीं किया जा सकता कि प्रेम और उसकी सार्वजनीन अभिव्यक्ति जिस प्रकार एक पुरुष ''अनिवार्य बाध्यता'' के साथ करता है, वैसा एक स्त्री रचनाकार नहीं करती। एक स्त्री रचनाकार के लिए प्रेम की अनुभूति उसके अपने होने की सार्थकता है...वह अनुभूति उसके लिए ''अद्वैत'' के धरातल पर है...किन्तु एक पुरुष के लिए प्रेम ''द्वैत'' और ''अद्वैत'' के बीच संचरण करता है। प्रेम उसके लिए भले ही अद्वैत हो, किन्तु प्रेरणा उसके लिए द्वैत है...। जब-जब द्वैत का भाग बढ़ता जायेगा...तब-तब ''प्रेम का प्रभाव'' या ''प्रेम की प्रेरणा'' की अभिव्यक्ति पुरुष रचनाकार करते रहेंगे। 'अनुभूति' के स्तर पर प्रेम ''अद्वैत'' (पूरी तरह नहीं) है, किन्तु प्रेरणा व अभिव्यक्ति के स्तर पर वह ''द्वैत'' है...। जब-जब प्रेरणा का प्रश्न होगा...वह ''द्वैत'' रूप में हमारे सामने उपस्थित होता रहेगा...।

(2)

प्रेम की प्रेरणा का प्रश्न प्राय: ''परकीया प्रेम'' में ही अपनी निष्पत्ति खोजता

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

है। ''स्वकीया प्रेम'' प्रेम की प्रेरणा प्रायः क्यों नहीं बन पाता? हिंदी में केदारनाथ अग्रवाल की पत्नी प्रेम की कविताएँ (हे मेरी तुम....) प्रायः अपवाद हैं। स्वकीया और परकीया के बीच मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रमुख अंतर यह है कि स्वकीया प्रेम का आधार मुख्य रूप से साहचर्य और कर्तव्य पथ का सहगामी स्वरूप है...तो परकीया प्रेम का मुख्य आधार स्वप्न...साहचर्य की आकांक्षा...आदर्श होते हैं। स्वकीया में 'है' का स्वीकार ''है'' तो परकीया में ''होने'' की आकांक्षा। ज़ाहिर है यथार्थ में रुमानियत कम ही होती है...रोमानियत तो आकांक्षा में ही ज़्यादा है। राजकमल चौधरी ने अपनी एक कहानी में पत्नी की शारीरिक अस्त-व्यस्तता का जो चित्र खींचा है, उसमें रोमानियत की स्थिति दूर-दूर तक नहीं है। स्वकीया,परकीया का यह रूढ़ विभाजन हिंदी साहित्य में इतना लोकप्रिय हुआ कि इस सम्बन्ध में राम और कृष्ण का विभाजन स्थिर-सा हो गया। प्रेम और प्रेरणा के केंद्र में क्या ''कमनीय स्त्री'' ही होती है? ''बहुत से पुरुषों के लिए स्त्री का वरेण्य रूप अभी भी श्रद्धा या आदर्श नारी की छवि होती है। इड़ा या तार्किक स्त्री को बहुत से पुरुष बहुत देर तक नहीं बर्दाश्त कर पाते।'' हाँ इस प्रकार के तर्क एक आंशिक सच्चाई लेकर अवश्य चलते हैं। किन्तु स्त्री का निर्बल रूप ही पुरुषों को पसंद आये या उनकी रचना भूमि बने,ऐसी अनिवार्यता नहीं। हमें मालूम है कि सीता, द्रौपदी, कैकई...जैसी स्त्रियों के बल ,पराक्रम व तेज विशेष चर्चित रहे हैं। वेदकालीन स्त्रियों की ख्याति तो उनके ज्ञान के कारण ही थी। दरअसल एक पुरुष की पुरुष दृष्टि अपनी ''श्रेष्ठता की अतिजीविता के दम्भ'' में ही प्रायः पलती है। किन्तु एक रचनाकार की प्रेरक भूमि प्रायः वे भूमियाँ बनती हैं, जो ''असामान्य'' हों। रचना की प्रेरणा प्रायः असामान्य जीवन स्थितियाँ या ''असामान्य संभाव्य जीवन स्थितियाँ'' बनती हैं। यही कारण है कि बहुत-सी रचना प्रेरणा की भूमि तार्किक स्त्रियाँ भी बनती हैं। मनुष्य का स्वभाव है कि वह सामान्य से इतर वस्तुओं, तथ्यों, व्यक्तित्वों की ओर आकृष्ट होता है। स्त्री का तार्किक रूप भी एक प्रकार का वैशिष्ट्य है...जिसकी ओर प्रायः पुरुष रचनाकार आकृष्ट होते हैं।

(3)

हिंदी का रीतिकाव्य,संस्कृत का श्रृंगारी काव्य तथा पश्चिम का रोमानी काव्य स्त्री-सौन्दर्य ,स्त्री आलंबन से अनुप्राणित रहा है। पुरुषों का नखशिख वर्णन पुरुषों को तो छोड़ दें, स्त्रियों को भी विशेष प्रिय नहीं रहा है। हालाँकि वाल्मीकि ने रामायण में राम का, व्यास ने महाभारत में कृष्ण, भीम, अर्जुन, कर्ण...का, माघ ने बलराम, कृष्ण का, भारवि ने अर्जुन का, हर्ष ने नल का, बाण ने चंद्रापीड के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन पर्याप्त विस्तार से किया है। उसी प्रकार पश्चिम के आदिकवि होमर ने ओडिसियस, एकीलीज, एलीज...की शारीरिक सुंदरता,रूप

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

गठन व शारीरिक सामर्थ्य का वर्णन पर्याप्त विस्तार से किया है। किन्तु पुरूषों के सौन्दर्य वर्णन की परंपरा क्रमशः कम होती चली गयी। हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि वह सामंती युग था, जिसमें पुरुषों का बल और रूप ही बाह्य प्रकाशन के सर्वाधिक लोकप्रिय विषय हुआ करते थे। डॉ. देवराज जी ने भारतीय महाकाव्यों के उदाहरण से यह तथ्य प्रस्तुत किया है कि भारतीय कवियों की दृष्टि सौन्दर्य की ओर क्रमशः उन्मुख होती चली है। रामायण तथा महाभारत में सीता तथा द्रौपदी जैसी सुन्दर स्त्रियों का वर्णन प्रायः प्रभावात्मक आधार पर करके ही महाकवि द्वय संतुष्ट हो गए हैं। इसी प्रकार इलियड, ओडिसी का केंद्रीय व्यक्तित्व हेलेन का है, किन्तु उसके सौन्दर्य वर्णन की ओर महाकवि होमर की दृष्टि बहुत कम गयी है। रचना के केंद्र में स्त्री सौन्दर्य वर्णन की परंपरा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओँ के उदय के आस-पास यानी लगभग 1000 ई के आस-पास से शुरू हुई। हाँ उसके कुछ पूर्व सिद्ध साहित्य में स्त्री और पुरुष के युगनद्ध चित्रों की परिकल्पना कर ली गयी थी तथा खजुराहो-कोणार्क के स्त्री-पुरुष सम्भोग के खुले चित्र चित्रित किये जाने लगे थे। सम्भवतः यह युग स्त्री-पुरुष शारीरिक सुंदरता के चित्रण का संधि-काल था। इसी के बाद से स्त्री सुंदरता का चित्रण रचनाकारों का प्रिय विषय बनता चला गया। रासो ग्रंथों, जयदेव के गीत-गोविन्द से लेकर विद्यापति की पदावली तक यह परंपरा क्रमशः पुष्ट होती चली गयी। इसके कारणों का अध्ययन करें तो एक बात बहुत स्पष्ट है कि पूर्व के काव्यों का मुख्य ध्येय युद्ध व पराक्रम के बहाने सभ्यता-संस्कृति के विमर्श प्रस्तुत करना था। धीरे-धीरे क्रमशः रचना के केंद्र में मानव...मानव जीवन की अन्य समस्याएँ...कलात्मक तथा सौंदर्यात्मक रूचि का प्राबल्य होता चला गया। हमारे काव्यों की गति क्रमशः प्रकृति-ईश्वर-संस्कृति-सभ्यता-राष्ट्रीयता-समाज-मनोविश्लेषण से लेकर संबंधों के आभासी रूप तक चली है। ऐसी स्थिति में रचनाकारों की दृष्टि जब परिवार--समाज-व्यक्ति तक मुड़ी तो उसमें उसके लिए पुरुष की अपेक्षा स्त्री ज़्यादा सौंदर्यात्मक विधान बनी। इसीलिए हमारे यहाँ पुरुषों के लिए धीरोदात्त, धीरोदत्त, धीरप्रशांत, धीरललित जैसे नायकों का वर्णन भी मुख्यतः चारित्रिक विशेषताओं के आधार पर किया गया। यही कारण है कि हम किसी स्त्री रचनाकार द्वारा किसी पुरुष पात्र की शारीरिक सुंदरता के वर्णन का प्रायः अभाव पाते हैं। इधर की स्त्री लेखिकाओं में सम्भोग, रति के खुले चित्र काफी मिल जायेंगे...इन रचनाकारों में प्रेम व उसकी अनुभूति के चित्र भी हैं...किन्तु इन रचनाओं में भी इस प्रकार के चित्र रति दृश्यों के बीच के ही ज़्यादा हैं....उसके पूर्व के नहीं। दूसरी बात यह है कि इस प्रकार के प्रयोग ज़्यादातर उपन्यास व कहानियों में मिलते हैं...कविता या ललित रचनाओं में नहीं।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सौन्दर्य और विचार

07.11.2017

आज एक प्रिय मित्र से बातचीत हुई। बातचीत का सिरा सौन्दर्य और विचार के बिंदु पर केंद्रित रहा। मित्र का तर्क था कि-''भावयुक्त चीजें सुन्दर होती हैं। विचार में मनुष्य दीर्घ समय तक नहीं रह पाता है...। विचार तात्कालिक उत्तेजना की भांति होते हैं, जो भावों को आकर गतिशील कर जाते हैं। इसीलिए उसमें गति, दृष्टि तो होती है; किन्तु सौन्दर्य नहीं होता। सौन्दर्य के उपादान तो भावयुक्तता में ही अपनी निष्पत्ति खोजते हैं। प्रेम, करुणा, दया, संरक्षण...जैसे मनोभावों में एक ''आंतरिक सौन्दर्य'' होता है...विचार उस सौन्दर्य को बस एक अनुशासन का रूप दे देते हैं...एक तरह से ''आंतरिकता का बाह्य निक्षेपण।'' मित्र की बातों से मुझे सौन्दर्य और विचार पर नए ढंग से सोचने का अवसर मिल गया। मुझे लगा कि मित्र की बातों में एक ''अतिरिक्त भाववादी आसक्ति'' है। हाँ यह ठीक है कि मनुष्य सामान्यत: या अपनी प्रारंभिक अवस्था में 'भाववादी रुझानों' से संचालित होता है। किन्तु जैसे-जैसे व्यक्ति सामाजिक संपर्क में आता-जाता है; वैसे-वैसे उसके भाववादी रुझानों का स्वरूप वैसा ही नहीं रह जाता, जैसे कि अपनी प्रारंभिक अवस्था में होता है। भाववाद के क्रमिक विस्तार में सौन्दर्य का पक्ष कोरा भाववादी नहीं रह जाता, उसमें क्रमशः प्रश्न (?), विचार यानी अपनी मूल्यांकन प्रक्रिया की गतिशीलता शामिल होती रहती है। हम प्रायः इस प्रश्न पर विचार नहीं करते कि कि कोई ख़ास वस्तु, व्यक्ति ही हमें क्यों अच्छा लगता है? इस प्रश्न को अक्सर हम रूचि भिन्नता...मत भिन्नता के जुमले में चलताउँ ढंग से निपटा देते हैं।

प्रश्न है कि रूचि का प्रश्न क्या मात्र भाव से जुड़ा हुआ है? हम किसी स्त्री/पुरुष को पसंद करते हैं तो इसमें क्या केवल ''भाव की क्रियाशीलता'' होती है? किसी का अच्छा लगना वस्तुतः ''वैचारिक यात्रा की भाववादी निष्पत्ति'' होती है। इसे ही दूसरे शब्दों में ''परिष्कृत अभिरुचि'' कहते हैं। फिर एक दूसरा प्रश्न यह है कि क्या सौन्दर्य 'आत्मनिष्ठ प्रक्रिया' है? काव्यशास्त्र में कहा जाता है कि रस

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

व्यक्ति/सहृदय के भीतर स्थित होता है, किन्तु रस का स्वरूप क्या होगा, इसके निर्धारण के लिए तो बाह्य संरचना, बाह्य ढाँचे की ही आवश्यकता होती है।

एक वैज्ञानिक के सौन्दर्य के उपादान उसका लैब, रसायन या अन्य वैज्ञानिक यंत्र होते हैं...उसे उनमें ही सौन्दर्य नज़र आता है। एक किसान को हल में ही सौन्दर्य दिखने लगता है। एक कवि के लिए, साहित्यकार के लिए सौन्दर्य प्रकृति में (पेड़-पौधे, जंगल, नदी, पर्वत...) हो सकता है...किसी के आत्मिक गुण में हो सकता है...किसी वैचारिक मूल्य में हो सकता है, किन्तु एक डॉक्टर या वैज्ञानिक को हो सकता है; प्रकृति में सौन्दर्य न दिखे। ऐसा नहीं है कि प्राकृतिक सुंदरता उनके लिए काम्य नहीं है...हाँ वह सुंदरता उनकी वैचारिकता से मेल नहीं खाती। ऐसा नहीं है कि वैचारिक सौन्दर्य 'भावगत सौन्दर्य' से युक्त न हो...हाँ होता यह है कि इसमें भावगत सौन्दर्य का विस्तार अवश्य हो चुका होता है।

दरअसल हमारे भीतर सौन्दर्य के प्रति अकुलाहट वहाँ होती है, जब हम किसी व्यक्ति, वस्तु के प्रति अपने भीतर गति, स्पंदन या सृजन महसूस कर सकें। आइए इसे कुछ उदाहरण के माध्यम से समझने का प्रयास करें। एक कवि को यदि प्रकृति के भीतर जाकर नए बिम्ब या रचना की मनोभूमि मिलती है, तो यह उसके लिए "सौन्दर्य का आलंबन" या सौन्दर्य होगा। किसी प्रेमी को यदि अपनी प्रेमिका के सौन्दर्य से आवेग, गति प्राप्त होती है, तो वह उसके लिए सौन्दर्य का मूल उपादान है।

एक वैज्ञानिक को यदि जीवन का रस उसकी अपनी प्रयोगशाला में दिखता है तो वह उसके लिए सौन्दर्य का उपादान होगा। यानी एक कवि, प्रेमी या वैज्ञानिक के आलंबन भले बदल गए हों, बदल जाते हों; किन्तु तीनों पात्रों के साथ घटना एक ही घटित होती है। तीनों के आलंबन उन्हें 'सृजनात्मक' बनाते हैं। एक बच्चे के लिए प्रकृति का महत्व संवेगात्मक है, सृजनात्मक नहीं। किन्तु एक कवि के लिए वह सृजन का आलंबन-उद्दीपन (बिम्बन)। एक सामान्य पुरुष के लिए कोई स्त्री मात्र प्राकृतिक ढंग से आकर्षण का केंद्र है, किन्तु एक प्रेमी के लिए उसकी प्रेमिका उसके स्पंदन, गति, उन्मेष के प्रस्फुटन का माध्यम है।

एक सामान्य व्यक्ति के लिए कोई प्रयोगशाला मात्र "रासायनिक केंद्र" है, किन्तु एक वैज्ञानिक के लिए वह सृजन का उदगम...मानवता का उद्‌भव स्थल है...। प्रश्न है कि इन घटनाओं में हम सौन्दर्य को किस रूप में महसूस करते हैं? वातविक सौन्दर्य हमेशा सृजनात्मक होता है। एक पुरुष के लिए कोई स्त्री या एक स्त्री के लिए कोई पुरुष मात्र इसलिए काम्य नहीं होते कि वे एक-दूसरे की यौन-आकांक्षा की पूर्ति के सहभागी बनते हैं; बल्कि वे इसलिए काम्य बनते हैं कि वे एक-दूसरे के भीतर सृजन करने की प्रेरणा भरते हैं।

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आधुनिक वैज्ञानिक-वैचारिक दृष्टि ने सौन्दर्य के पूर्व प्रचलित प्रतिमानों पर प्रश्न चिह्न लगाना प्रारम्भ कर दिया है। हालाँकि हर युग पूर्व के प्रतिमानों को बदलता है...उसका विस्तार करता है। चाँद का सौन्दर्य मुक्तिबोध को रास नहीं आता। वह उनके लिए पूँजीवादी संस्कृति का प्रतीक बन जाता है; तो इसका अर्थ यह नहीं है कि चाँद में सौन्दर्य नहीं है...बस हुआ यह कि उस सौन्दर्य का वैचारिक विस्तार हो गया है। चाँद के भीतर सौन्दर्य खोजने के तरीके में बदलाव आ गया है। चाँद से पूर्व का हमारा सम्बन्ध भावात्मक था...अब वैचारिक भी हो गया।

एक बच्चे से जब चाँद को दिखाकर कहा जाता है-''चंदा मामा...।'' तो यह एक प्रकार से भावात्मक सम्बन्ध की निर्मिति हुई। किन्तु यदि हम किसी वस्तु, व्यक्ति, तथ्य के साथ स्वयं कोई रिश्ता निर्मित करते हैं तो वह हमारी वैचारिकी का परिणाम होता है। नायिका का मुख/प्रेमिका का मुख चाँद जैसा...यह एक कवि रूढ़ि बन गयी...किन्तु यदि कवि अपने ढंग से किसी तथ्य को देखता है तो वह एक प्रकार के वैचारिक सौन्दर्य को जन्म देता है।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मूल और भाष्य

11.11.2017

आज एक प्रिय मित्र से मूल और भाष्य पर बातचीत हुई। मूल ज्ञान हमेशा ही सूत्रात्मक होता है, जबकि उसकी व्याख्या हमेशा ही विस्तार की मांग करती है। जैसे छोटी कविता की बड़ी व्याख्या...जैसे छोटे जीवन के बड़े कर्म...। वेद की ऋचाएँ...उपनिषद् के मन्त्र कितने छोटे हैं...किन्तु उसकी व्याख्या। उपनिषद् कितने छोटे हैं, किन्तु पुराण कितने बड़े...। मूल हमेशा ही संझिप्त होता है, किन्तु उसकी व्याख्या बड़ी हो जाती है। जैसे विज्ञान का फॉर्मूला...जैसे गणित का सूत्र...। चूंकि मूल इतना सघन होता है...गूढ़ होता है कि वह अपने सम्प्रेषण-क्रम में विस्तार पा जाता है।

मनुष्य के जीवन का मूल कुछ विचार, कुछ भाव होते हैं, जिन पर उसका जीवन निर्भर करता है। यही केंद्रीय भाव मनुष्य का मूल होता है। एक प्रेम कैसे सघन होकर पूरे जीवन को संचालित करने लगता है, एक करुणा कैसे पूरी सामाजिकता का आधार बन जाती है। वस्तुत: अपनी गति क्रम में मनुष्य के सारे कर्म धीरे-धीरे सूक्ष्म होते चलते हैं। मूल का विस्तार व्याख्या (स्थूल में...) और फिर स्थूल का विस्तार सूक्ष्म में...हाँ यही क्रम है। दिन भर के कार्य दैनंदिनी की कुछ पंक्तियों में तथा जीवन भर के कार्य कैसे कुछ पृष्ठों में सिमट जाते हैं...।

इतिहास एक बड़ा भाष्य है, साहित्य उस भाष्य का मूल है। जब-जब समाज में व्याख्या की बहुलता बढ़ती है, तब-तब साहित्य को हस्तक्षेप करना पड़ता है। आखिर प्रतिरोध मूल से ही तो हो सकता है...किन्तु भक्ति आंदोलन में सैद्धांतिक भाष्य (रामानुज,वल्लभ...) भी रचे जा रहे थे और साहित्यिक मूल भी...(कबीर, तुलसी...)। सम्भवत: इसका कारण यह हो सकता है कि वह संक्रमण का काल था...और संक्रमण काल में मूल के साथ ही भाष्य भी अपनी प्रासंगिकता खोज लेते हैं...जैसे हमारे संक्रमण काल में विवरण...। जैसे साहित्य की महत्ता मनुष्य के मूल तक पहुँचने की होती है, वैसे ही मनुष्य की महत्ता इतिहास के मूल में पहुँचने की।

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कुछ पद्धति मूल से भाष्य (दर्शन, गणित, विज्ञान...) तक जाने की होती है, तो कुछ भाष्य से मूल तक (इतिहास, साहित्य...)...। किन्तु दोनों का उद्देश्य उन बिंदुओं का रेखांकन ही होता है, जो मनुष्य की सभ्यता-संस्कृति को संयोजित करने के आधार बनते हैं। प्रेम कितना मूल है...कितना सघन...किन्तु अपनी व्याख्या में कितने अनुषंगों को समेट लेता है...जैसे एक ही मूल का बार-बार रेचन हो। इसी प्रकार साहित्य भी एक ही भाव (रति, हास, शोक, क्रोध....) का बार-बार संयोजन करता चलता है। किन्तु सब व्यक्तियों की मूल तक पहुँच नहीं हो पाती...अधिकतर जीवन के भाष्य में ही उलझे रहते हैं। यही नियति है, बिडम्बना है या कहें कि जीवन का रस..लालित्य...।

भारतीय मिथकशास्त्र का जलप्लावन मूल को संरक्षित करने का ही सृजनात्मक प्रयास है। सम्पूर्ण प्रकृति/धरती नष्ट होने के कगार पर है,ऐसे समय में मनु सारे बीजों [मूल रूप] को एक नौका पर लेकर निकल पड़ते हैं। जल प्लावन वस्तुत; सभ्यता-संकट का प्रतीक है। बीज/मूल का संरक्षण वस्तुत; संस्कृति-संरक्षण है। सभ्यता पर जब-जब संकट उपस्थित होगा, संस्कृति रूपी नौका का आश्रय मानवीय संस्कृति लेती रहेगी। वस्तुत; मनुष्य के भाष्य कभी भी नष्ट हो सकते हैं [या नष्ट कर दिए जाते हैं-बाख्तियार खिलजी द्वारा नालंदा-तक्षशिला के ग्रंथालय जलाया जाना]....ऐसी स्थिति में मनुष्य का बीज रूप, सृजनरूपी-संकल्प धर्मी चेतना का प्रतिरूप ही आगे आकर प्रतिरोध करेगा।

भारतीय मिथकशास्त्र का जलप्लावन मूल को संरक्षित करने का ही सृजनात्मक प्रयास है। सम्पूर्ण प्रकृति/धरती नष्ट होने के कगार पर है,ऐसे समय में मनु सारे बीजों [मूल रूप] को एक नौका पर लेकर निकल पड़ते हैं। जल प्लावन वस्तुत; सभ्यता-संकट का प्रतीक है। बीज/मूल का संरक्षण वस्तुत; संस्कृति-संरक्षण है। सभ्यता पर जब-जब संकट उपस्थित होगा, संस्कृति रूपी नौका का आश्रय मानवीय संस्कृति लेती रहेगी। वस्तुत; मनुष्य के भाष्य कभी भी नष्ट हो सकते हैं [या नष्ट कर दिए जाते हैं-बाख्तियार खिलजी द्वारा नालंदा-तक्षशिला के ग्रंथालय जलाया जाना]....ऐसी स्थिति में मनुष्य का बीज रूप, सृजनरूपी-संकल्पधर्मी चेतना का प्रतिरूप ही आगे आकर प्रतिरोध करेगा।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कविता में लय या लय में कविता...

05.01.2018

क्या कविता ''आंतरिक लय-संयोजना'' का प्राकट्य है? यहाँ आंतरिक कहने का तात्पर्य यह है कि यह सधन...तीव्र-संवेदनों का ही प्राकट्य है...लेकिन वह भी सीधे-सीधे नहीं...अपने 'खास ढंग की संयोजना' के साथ। यानी कविता बिना अंत: में लययुक्त संवेदना के प्रकट नहीं होती। संवेदना तो गद्य में भी होता है, किन्तु वहाँ लय की ऐसी अनिवार्यता नहीं। लय कविता की निजी...आंतरिक विशेषता है। आख़िर ऐसा क्यों होता है कि हम बिना लय में प्रवेश किये बिना कविता नहीं रच पाते? दरअसल कविता में ''लय का प्रश्न'' मात्र छांदिक-प्रश्न नहीं है। कविता में लय का प्रश्न शुद्ध रुप से सामाजिक-प्रश्न है। श्रेष्ठ कविता मात्र आत्मिक प्रलाप नहीं होती...वह मूल रुप से ''सामाजिक प्रलाप'' है। जहाँ भी प्रलाप होगा,वहाँ तीव्रता होगी। गहरी विवशता होगी...और जहाँ विवशता होगी, वहाँ लय होगी। जड़ वस्तुओं में लय नहीं होती। लयता जीवित होने का प्रमाण है। मृत वस्तुएँ लयहीन होती हैं। इसीलिए ''मनुष्य का सृजन कर्म सबसे बड़ा लयात्मक उधम'' हैं। इस प्रकार लय का प्रश्न काव्य शास्त्रीयता का अतिक्रमण कर गहन रूप से ''सामाजिक डूब'' के प्रश्न के रूप में हमारे सामने उपस्थित हो जाता है।

विचार का अनुशासन या विचार की वैविध्यमयी लालित्य पूर्ण अभिव्यक्ति गद्य रूप में हमारे सामने आती है...उसी प्रकार भाव का अनुशासन या भाव की आलंकारिक-साम्वेदनिक अभिव्यक्ति कविता रूप में प्रकट होती है। स्पष्ट रूप से समझने की चीज़ है कि कविता चाहे तुकांत हो या अतुकांत वह बिना भावात्मक आवेग के नहीं लिखी जाती। हाँ वह भावात्मक आवेग बाह्य रूप से नहीं आंतरिक रूप में प्रकट होती है। मनुष्य का अन्त:करण ..हृदय मूल रूप से लयात्मक होता है।

कविता में आजकल अन्त:करण का प्रश्न द्वितीयक हुआ है। कविता पर बाह्य प्रभाव (व्यवस्था...वैचारिकता...) ज़्यादा ही पड़ा है। लिहाज़ा आज की अधिकांश कवितायें ''स्वर के आरोह-अवरोह'' को लय के रूप में रूपांतरित कर देती हैं। इस

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

प्रकार लय किसी भी प्रकार से बनाये जाने वाला अनुशासन नहीं है...लय अपने आप बनता है...। हाँ उसके बाद की प्रक्रिया में कवि की चेतना, मस्तिष्क, हृदय, प्राप्त ज्ञान...इत्यादि सभी शामिल हो जाते हैं। कविता निर्माण की इस पूरी प्रक्रिया में लय का स्थान इस प्रकार प्रास्थानिक रूप में हमारे सामने आता है। कविता की संयोजना क पश्चात लय नहीं निर्मित होती है। लय कविता का पूर्वार्द्ध है...प्रस्थान है और केंद्रीय संरचना है। किन्तु आजकल लय को बाह्य रूप से संयोजित करने का चलन तेज हुआ है। फलत: कविता में तुकबंदियों या वैचारिकी के आरोपण का चलन तेज हुआ है। हाँ लेकिन आज की श्रेष्ठ कविताओं में भी लय का वैसा ही सम्मान है। हाँ उसके स्वरूप में परिवर्तन अवश्य आ चुका है। पूर्व की कविताओं में लय पूरी कविता के साथ ही हर पंक्ति के भीतर समाविष्ट हुआ करती थी, किन्तु आज की कविताओं में लय को किसी एक बिंदु पर पकड़ती हैं। वह एक बिंदु आज की कविताओं को व्याख्यायित करता है। पूर्व के कवि अपनी कविता में कई-कई बिंदुओं से अपनी कविता का वृत्त रचते थे...आज की कविता किन्हीं ख़ास बिंदु...मोड़ों पर लय को पकड़ती है। यह मात्र इस बात का संकेतक नहीं है कि हमारे समाज में लय के लिए स्पेस कम हुआ है..यह इस बात का संकेतक भी है कि ''कविता ने अपनी शैली'' बदल ली है। इस छापेमार...छद्म युद्ध में कविता अचानक से ''हमारी संवेदना के चित्र को'' पकड़ लेती है। यह ''अचानक से'' आना ही लय का आना है। इस प्रकार आज की कविता में लय ''अंतर्वस्तु से ज़्यादा अब एक रणनीति'' भी है। यह तो तय है कि हर युग की कविता अपनी रचना-रणनीति बदलती चलती है...कारण यह है कि बाह्य-परिवेश...सत्ता या प्रतिगामी ताकतों का प्रहार उस लय को तोड़ने पर हमेशा से रहा है...किन्तु कविता की लय कहाँ टूटी है...मनुष्य की गति कहाँ रुकी है! मनुष्य की सृजनात्मक गति ही कविता की आंतरिक लय है। इस प्रकार लय का प्रश्न मनुष्य और समाज की गति से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कथ्य और प्रभावी प्रस्तुति का प्रश्न

07.03.2018

क्या कथ्य यानी विषय वस्तु और प्रभावी प्रस्तुति में अनिवार्य सम्बन्ध है? क्या कोई विशेष कथ्य ही प्रभावी हो पाता है? क्या रचनाकार की प्रतिभा और चित्रण की कुशलता से कोई चित्र, दृश्य या रचना प्रभावी बन जाया करती है? जर्मन कवि रिल्के इस सम्बन्ध में कथ्य (विषयवस्तु) को प्रभावी कारक मानते हैं। वह लिखते हैं-''भावुक लोगों और बड़ी घटनाओं के माध्यम से आपदाओं की प्रस्तुति कम प्रभावी होती है, जबकि रोज़मर्रा के साधारण और सामान्य वातावरण में से उठती विपत्तियाँ खूब बड़ी लगती हैं और बड़े धूम-धड़ाके से जीवन पर टूटती दिखती हैं।'' रिल्के का यह कथन नाटक के सन्दर्भ में है किन्तु इससे हमें कुछ संकेत तो मिलते ही हैं। हम अपने प्रश्न पर विचार करें इससे पूर्व रिल्के के कथन की समीक्षा उचित होगी। क्या वाकई ऐसा होता है कि बड़ी घटनाओं का चित्रण कम प्रभावी होता है? साहित्य के इतिहास को देखें तो संसार की बड़ी घटनाओं-बड़े भूकंप, युद्ध, बाढ़, आपदा, राजनीतिक घटना चक्रों पर कम साहित्य लिखा जाता है, जबकि जीवन की सामान्य समस्याओं पर प्राय: साहित्य केंद्रित होता है। दरअसल इसके भी ठोस कारण हैं। संसार की बड़ी घटनाओं के चित्रण विशेष शोध की मांग करता है। इस प्रकार के लेखन में लालित्य के साथ ही तथ्यों का संग्रह-संयोजन, विश्लेषण-मूल्यांकन की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। यानी इस प्रकार के लेखन में संवेदना की बजाय वैचारिकता को अधिक प्रश्रय मिलता है। साहित्य दरअसल किन्हीं घटना-चक्रों को तथ्यात्मक ढंग से प्रस्तुत करने वाली विधा है भी नहीं। साहित्य किसी तथ्य को उसके ''मूल'' रूप में प्रस्तुत करने का अनुशासन है...इसलिए भी कोई ''एक घटना'' वर्णित होकर भी साहित्य का अनिवार्य अंग नहीं बन पाती। हालाँकि ऐसा नहीं है कि बड़ी घटनाओं पर साहित्य नहीं लिखा जाता। साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यास, कहानी, जीवनी, संस्मरण...जैसी विधाएँ अपने आप में जीवन-समाज के बड़े घटना-चक्रों का संकेत करती हैं। साहित्य में यह प्रश्न भी समय-समय पर

CC-OAgamnigam Digital Preservation
Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

उठता रहा है कि किसी विशेष कालखंड के साहित्य में इतिहास अनुपस्थित क्यों है? हिंदी में छायावाद के दौरान यह प्रश्न ख़ूब उछला कि आख़िर छायावादी कविता में राष्ट्रीय आंदोलन क्यों ग़ायब है? (हालाँकि इस प्रश्न का प्रति-उत्तर समीक्षकों ने अपने-अपने ढंग से दिया है....) या देश-विभाजन पर हिंदी में कम साहित्य लिखा गया (यशपाल के झूठा-सच, भीष्म साहनी का तमस, अमृतसर आ गया, कृष्णा सोबती का सिक्का बदल गया या मोहन राकेश की मलबे का मालिक जैसा साहित्य लिखा ही गया है.....)। यानी यह प्रश्न हमेशा से रहा है कि साहित्य में अपने युग का साक्षात्कार हो पाया है या नहीं? भक्तिकालीन कविता में भी तत्कालीन घटना-चक्रों को न पाकर कुछ लोग निराश होते ही हैं...इस प्रश्न का तात्कालिक जवाब यही हो सकता है कि साहित्य घटना केंद्रित नहीं होता। वह घटना के पार्श्व और प्रभाव का मुख्य रुप से विश्लेषण करता है।

अब हम अपने प्रारंभिक प्रश्न पर लौटते हैं कि कथ्य और प्रभावी प्रस्तुति का क्या सम्बन्ध है? हालाँकि यह प्रश्न भी नया नहीं है। कलावादी समीक्षक ब्रैडले की यह उक्ति तो प्रसिद्द ही है कि ''यदि कवि में प्रतिभा है तो वह सूई की नोंक पर भी महाकाव्य लिख सकता है।'' हालाँकि परम्परावादी समीक्षक बड़ी रचना के लिए बड़े कथ्य का होना अनिवार्य मानते हैं। वस्तुत: इस प्रश्न को इस ढंग से समझें कि ''कथ्य की भव्यता कथन की पृष्ठभूमि है।'' बड़ा प्लॉट बड़ी रचना का आधार अवश्य बनता है, किन्तु बड़ी रचना के लिए केवल प्लॉट की भव्यता ही आवश्यक नहीं होती। बल्कि इसके साथ ही चरित्र-व्यक्तित्व, परिवेश, युग-यथार्थ व उसकी सम्भावना की पकड़, लेखक का विशेष दृष्टिकोण-उद्देश्य, जीवन-बोध, मूल्य की प्राप्ति...यानी रचना की भव्यता में प्लॉट आधार भले बनता हो, किन्तु उसके साथ ही अन्य महत्वपूर्ण तथ्यों की भी बड़ी भूमिका होती है। इसीलिए मुझे कलावादियों और परंपरावादियों दोनों के मत एकांगी लगते हैं। साहित्य-सर्जना के लिए निश्चित रूप से ''प्रतिभा की महत्ता'' सर्वोपरि है, किन्तु प्रतिभा का कार्य केवल संयोजन करना तो नहीं है। प्रतिभा युग की आवश्यकता के सन्दर्भ में विषय-चयन का कार्य भी तो करती है। प्रतिभा के अभाव में बड़े प्लॉट पर लिखी गयी रचनाएँ भी सामान्य बनकर रह जाती हैं। इसीलिए रिल्के के उपरोक्त कथन से मैं पूरी तरह सहमत नहीं हो पाता हूँ। बड़ी घटनाओं पर रचित प्रस्तुतियाँ भी प्रभावी होती हैं...हाँ वे श्रमसाध्य अवश्य होती हैं।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कविता में दृश्य निर्माण

04.04.2018

आज एक प्रिय मित्र ने कविता और दृश्य निर्माण प्रक्रिया पर चर्चा की। मित्र का तर्क था कि कविता में विचार और दृश्य निर्माण की प्रक्रिया अन्योन्याश्रित है। मित्र विचारों के आधार पर दृश्य-निर्माण की प्रक्रिया को घटित होना मानता है, जैसा कि मुक्तिबोध भी मानते हैं। वैचारिक कविता में विचार से दृश्य खड़े होते चले जाते हैं...फिर क्रमश: एक लंबी 'दृश्य-माला' बन जाती है। वस्तुत: यह दृश्य माला' विचार को स्पष्ट करने के लिए, उसे पूर्ण करने के लिए निष्पत्ति रूप में आती है। यानी इस प्रकार की कविता में विचार को पुष्ट करने के लिए दृश्य-निर्माण किया जाता है। लेकिन क्या विचार से दृश्य निर्माण की प्रक्रिया हर प्रकार की कविता में होती है? मुझे लगता है कि यह काम कविता हमेशा नहीं किया करती। विचार से दृश्य-निर्माण की प्रक्रिया मात्र वैचारिक-प्रगतिशील कविता में ही होता है। कविता के सन्दर्भ में ज्यादा काम्य स्थिति वह होती है कि जब दृश्य निर्माण के बीच कविता का जन्म हो। कवि के सामने कोई भाव, बिम्ब या दृश्य इस रूप में आ जाए कि वह विचार की उत्पत्ति साथ ही कर ले। ज़ाहिर है ऐसी कविता ज़्यादा विश्वसनीय, प्रामाणिक और स्थायी होगी। इस प्रकार कविता में दृश्य निर्माण की यह दो विधियाँ प्रमुख रूप से हैं। एक, विचार से दृश्य निर्मित करना और दूसरा, बिम्ब-भाव की उत्पत्ति से दृश्य खड़े हो जाना और फिर उनका विचारों में ढल जाना। ज़ाहिर है पहले प्रकार की कविता सायास निर्मित होती है, जबकि दूसरे प्रकार की कविता प्राकृतिक ढंग से...बिना किसी प्रयत्न (प्रक्रिया के स्तर पर बेहद जटिल प्रक्रिया से गुजर कर...) के...।

प्रश्न है कि कविता में दृश्य के बनने की प्रक्रिया क्या है? वह कौन-सी प्रक्रिया होती है, जिसमें कविता में दृश्य निर्माण करना आवश्यक या अनिवार्य हो जाता है। गद्य में जो कार्य विचार-सरणि के विस्तार की प्रक्रिया से होता है, वही काम कविता दृश्यों की श्रृंखला निर्मित करके करती है। कविता में दृश्यों की योजना

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

करने के पीछे मुख्य वज़ह यह रही है कि इसी बहाने कवि "भावों को मूर्तता" देने का प्रयास करता है। यहाँ बिम्ब और दृश्य के सम्बन्ध या पार्थक्य को समझ लेना भी उचित होगा। बिम्ब में भी दृश्य खड़ा किया जाता है...इस ढंग से इसकी दृश्य योजना से समानता है, किन्तु बिम्ब में किसी दृश्य को सिर्फ़ खड़ा किया जाता है...किन्तु बिम्ब जब एक लंबी क्रियाशीलता के रूप में हमारे सामने प्रकट होता है तो वह दृश्य बन जाता है। बिम्ब में नयापन होता है...टकटकापन...। जबकि दृश्य पूर्व प्रचलित भी हो सकते हैं, हाँ उनका ट्रीटमेंट पुराना न हो। बिम्ब के बार-बार प्रयोग करने से वह दृश्य बन जाता है। इसलिए बिम्ब का मूल दृश्य ही है, किन्तु दोनों में प्रयोगगत भिन्नता है। रीतिकालीन कविता का स्मरण करें। रीतिकालीन कविता में बिम्ब की बज़ाय दृश्य अधिक हैं, वहीं छायावाद की कविता बिम्बबहुला है। इसका क्या कारण हो सकता है? क्या कविता के कथ्य-भंगिमा, तेवर या स्वरूप पर भी निर्भर करता है कि वह किधर जायेगी? सन् 70 के बाद की कविता में बिम्ब निर्माण की प्रवृत्ति घटी है। कारण यह कि बिम्ब का प्रयोग कविता में वहाँ अनिवार्य हो जाता है, जहाँ नवीन कथ्य के अनुसंधान की आवश्यकता रहे। नवीन कथ्य के अनुसन्धान की प्रक्रिया भीतरी...आंतरिक प्रक्रिया है। यह उस समय प्रकट होती है, जब पूर्व की कविता अपनी स्थूलता में अपनी सम्प्रेषणीयता खो चुकी हो। एक दूसरा प्रतिप्रश्न किया जा सकता है कि क्या आज की अधिकाँश कविताएँ बिम्ब-निर्माण की प्रक्रिया से नहीं गुज़र रही हैं? जैसा कि हमने कहा कि बिम्ब निर्माण की प्रक्रिया आंतरिक, बहुत भीतरी प्रक्रिया है। कविता जैसे-जैसे बाह्य सत्यों (व्यवस्था, सत्ता, धर्म...आदि के प्रश्न) से ज़्यादा टकरायेगी या उन पर एक सीमा के बाद आश्रित होती जायेगी, वैसे-वैसे कविता में बिम्ब-निर्माण की प्रक्रिया शिथिल होती जायेगी। कविता में बिम्बों की शिथिलता का अर्थ है-सृजन की सम्प्रेषणीयता का बाधित होते चले जाना। (हालांकि इस बीच कई कवियों ने बिम्ब का कुशल संयोजन अपनी कविता में किया है।)

कविता में दृश्य-निर्माण की प्रक्रिया का सम्बन्ध 'भाव-निर्माण' से ही लगाया जा सकता है। किसी दृश्य को बिम्ब में ढालना कविता के लिए चुनौती रही है। कवि अपने आस-पास के दृश्यों को सीधे कविता में नहीं लाता...वह पहले उसे बिम्बित करता है...यानी दृश्यों को सूक्ष्म और सृजनात्मक बनाता है, फिर उसे कविता में लाता है। कविता के दृश्य और आम जगत के दृश्य भी एक नहीं होते। वे एक जैसे दिखते तो हैं, किन्तु होते नहीं हैं। सामान्य जीवन के दृश्य बहुतेरे तत्वों को एक जगह रखकर बाह्य संयोजन करते हैं...किन्तु कविता के दृश्य में बहुत से तत्व एक जगह नहीं रखते। फिर भी वे "आंतरिक संयोजना" का कार्य करते हैं। यह आंतरिक संयोजना भाव-संवेदन के धरातल पर चलती है। एक उदाहरण लें। एक

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

बाज़ार का दृश्य है, जहाँ अलग-अलग प्रकार के ग्राहक, वस्तुएँ, विक्रेता, दुकानें...लगी हुई हैं। चारो ओर भीड़-ही-भीड़ है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को बाज़ार में रौनक तो दिखेगी, किन्तु उस दृश्य में भाव-संवेदना या मानवीयता या कहें कि करुणा कहाँ दिखेगी! अब कविता के दृश्य को लें। कविता में सम्पूर्ण बाज़ार के चयनित दृश्य होंगे। "कविता प्रतिनिधि विधा" है। वह मूल तथ्य, विचार को रेखांकित करती है। इस ढंग से कविता में आए बाज़ार के दृश्य 'चयनित दृश्य' ही होंगे। कविता इन्हीं चयनित दृश्यों माध्यम से संवेदना को टटोलने का प्रयत्न करती है। कविता में बाज़ार के दृश्य उन बिंदुओं पर केंद्रित होंगे जो मानवीय संवेदना जाग्रत कर सकें। जैसे कोई भिखारी, बच्चा, कोई ग़रीब व्यक्ति, अपाहिज़ या इस प्रकार के व्यक्ति या विसंगतिपूर्ण जीवन स्थिति...जो उस बाज़ार की भाग-दौड़ या रौनक़ से कहीं दूर हैं...या वे इस रौनक़ के विलोम हैं या वे विलोमरूपी प्रतिरूप रच रहे हैं। यानी कविता उन बिंदुओं की तलाश करेगी, जो हमारे भीतर मानवीय मूल्य या गरिमा पैदा कर सकें। यहीं कविता के दृश्य सामान्य दृश्यों से अलग हो जाते हैं। सामान्य जगत के दृश्य सिर्फ हमारे सामने विवरण, तथ्य प्रस्तुत करते हैं, जबकि कविता के दृश्य हमारे सामने विचार प्रस्तुत कर हमें संवेदीकृत कर जाते हैं। इसलिए कविता में दृश्य बनने की प्रक्रिया वहाँ शुरू होती है, जहाँ कवि की स्वयं की संवेदना करुणा में ढलनी प्रारम्भ होती है। कई बार वैचारिक आग्रह से भी दृश्य निर्मित किये जाते हैं...किन्तु वे प्रश्न खड़े करते हैं...मार्मिकता तक हमें ले जाते हैं, स्वयं मार्मिक नहीं बनते।

एक प्रश्न कविता और गद्य की दृश्य-योजना को लेकर...। क्या गद्य की दृश्य-योजना और कविता की दृश्य-योजना में अंतर होता है? चूंकि दोनों साहित्य की विधाएँ हैं। अत: मूल रूप से दोनों में भेद तो नहीं होना चाहिए। किन्तु दोनों में अनुशासन का भेद है, इसलिए उनके ट्रीटमेंट और कहन-शैली में अंतर का आना स्वाभाविक ही है। गद्य में भी किसी दृश्य को मार्मिक और सृजनात्मक बनाना ही लेखक का उद्देश्य होता है। प्रेमचंद की 'ईदगाह' कहानी लें। 'ईदगाह' में प्रेमचंद ने बाज़ार के दृश्य का यथार्थपूर्ण चित्रण किया है। दृश्य की योजना मार्मिक कथन के साथ समाप्त होती है। यानी दृश्य करुणा में ढल जाता है। इस ढंग से एक सफ़ल गद्य भी 'संवेदीकृत' दृश्य की रचना करता है; किन्तु एक कविता का कार्य गद्य की रचना प्रक्रिया से थोड़ा भिन्न और कठिन होता है। कविता के पास गद्य की तरह दृश्य-निर्माण करने के लिए इतने विवरण नहीं होते। वह अपनी सघन, सीमित शब्दावली के माध्यम से ही संवेदीकृत दृश्य का निर्माण करती है। कविता में दृश्य इसीलिए विवरणात्मक कम होते हैं, वे प्रभावात्मक होते हैं। यानी कविता मुख्यत: प्रभावात्मक दृश्य योजना का निर्माण करती है। प्रेमचंद के पास ईद के बाज़ार की दृश्यावली प्रस्तुत करने के लिए जितना अवकाश है...स्पेस है...या विधागत छूट (गद्य) है,

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

उतनी एक कवि के पास नहीं होती। इसीलिए कवि ''विवरणात्मक दृश्यों'' की बज़ाय ''प्रभावात्मक दृश्यों'' की योजना करता है। यही कारण है कि लंबी-से-लंबी कविता भी विवरण में नहीं फंसती, वह ''विवरण के प्रभाव का अंकन'' करती है। 'पटकथा', 'असाध्यवीणा', 'सरोज-स्मृति' या 'राम की शक्तिपूजा' में कोई बताए कि विवरण कितना है? 'अँधेरे में' कविता में अवश्य विवरण का संगुम्फन है, किन्तु उसका विवरण/दृश्य भी कुछ मुख्य अंशों पर केंद्रित है। कविता में इसीलिए विवरण की बज़ाय ''विवरण के निचोड़'' (दृश्य) का विधान किया जाता है। यहाँ गद्य और कविता के दृश्य योजना के स्वरूप को देखना उचित होगा। गद्य के दृश्य निर्माण के पीछे परिस्थितियों के जटिल घात-संघात को पकड़ना अनिवार्य होता है। गद्य के दृश्य का मुख्य उद्देश्य उन जटिल परिस्थितियों को उभारना...पकड़ना होता है। जटिल परिस्थितियाँ कविता में भी होती हैं। आख़िर 'अँधेरे में' कविता का परिवेश का सीधा-सपाट है? किन्तु गद्य उन जटिल परिस्थितियों के सम्पूर्ण ब्यौरों को इकट्ठे करता है...। आख़िर विचार विवरण के आधार पर ही तो बढ़ता है...किन्तु कविता समाज की जटिल परिस्थितियों को चित्रित करने के लिए संवेगात्मक...नाटकीय दृश्यों की योजना करती है। यह कविता के दृश्य-निर्माण की अपनी भंगिमा है।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पूर्ण-अपूर्ण रचनाएँ

07.06.2018

आज एक मित्र ने पूर्ण-अपूर्ण रचनाओं का प्रश्न उठाया। मुझे मुक्तिबोध का स्मरण हो आया, जिनके अधिकांश लेख, कहानियाँ और उपन्यास अपूर्ण हैं। विजयदेवनारायण साही का प्रसिद्ध लेख ''लघु मानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस'' अपने 50-60 पृष्ठों के फ़ैलाव के बावजूद अपूर्ण है। प्रश्न है क्या कोई लेख़क अपनी मानस-यात्रा को पूर्ण कर पाता है? बड़ी-से-बड़ी रचनाएँ भी क्या पूर्ण हैं? होमर के 'इलियड', 'ओडिसी ' की बात करें तो वे अपूर्ण रचनाएँ ही हैं। स्वयं 'रामायण' की पूर्णता भी क्या असंदिग्ध है? जो कभी 'उत्तरकाण्ड' में तो कभी लव-कुश प्रकरण में विस्तारित होती रही है। इसी प्रकार 'रामचरितमानस' भी क्या पूर्ण रचना है? मुझे लगता है कि 'मानस' के 'दमित पाठ' का विस्तार ही तुलसी की परवर्ती रचनाएँ हैं। क्या लेख/ रचना की पूर्णता किसी ''विशिष्ट अनुभूति का उसकी निष्पत्ति तक चले जाना'' है? छोटी कविताओं में इस दृष्टि से सुविधा होती है, क्योंकि वे एक विशेष कोण को ही पकड़ने का प्रयत्न करती हैं। अज्ञेय की छोटी कविताएँ इसीलिए सफ़ल रही हैं...हाँ मानवीय अनुभूतियों की पूर्णता की दृष्टि से वे भी अपूर्ण हैं। प्रश्न है कि क्या कोई भी रचना पूर्ण हो पाती है? या एक ही उपार्जित सत्य (अनुभूति) को लेखक विभिन्न कोणों से कहता चलता है? इस प्रक्रिया में कभी कोई कोण पकड़ में आता है तो कभी कोई....। इस प्रकार 'रचना की पूर्णता' का प्रश्न 'जीवन की पूर्णता' के रूप में उपस्थित हो जाता है। मानवीय सभ्यता के विकास क्रम में हम क्या एक पूर्ण जीवन (?) की तलाश कर रहे हैं? आज उत्तर-आधुनिकता में पूर्णता (टोटैलिटी) की अवधारणा को नकार दिया गया है, ऐसी स्थिति में पूर्ण रचना का प्रश्न एक असंगतिपूर्ण कथन के रूप में उभरता है। मित्र का तर्क है कि आवेगात्मक लेखन की अपेक्षा रोमानी लेखन में एक रचना ज्यादा पूर्णता के क़रीब होती है; कारण यह कि उसमें एक अनुभूति को पूरी सघनता में पकड़ने का प्रयास किया जाता है। हो सकता हो...''एक अनुभूति की सघनता'' किसी रचना को पूर्णता तक ले

CC-OAgamnigam Digital Preservation
Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जाती हो...। इस दृष्टि से भाववादी रचनाएँ/रचनाकारों के अधिकांश लेख पूर्ण-से (पूर्ण नहीं) होते हैं। वहीं प्रतिबद्ध रचनाएँ/रचनाकारों के अधिकांश लेख वैचारिकता के बीच लिखे जाते हैं; इसलिए वे किसी एक प्रश्न को भले ही हल करते दिखें, किन्तु रचना के स्तर पर वह अपूर्ण ही रह जाती है। यहाँ मुक्तिबोध के विवशता भरे कथन याद आ जाते हैं, जहाँ वे कहते हैं कि मैं छोटी कविताएँ नहीं लिख पाता, क्योंकि वे अधूरी रह जाती हैं...। मुक्तिबोध की समस्या किसी प्रश्न को उसके "अंतिम निष्कर्ष तले" पहुँचाने की है...और इसलिए वे लंबी कविता का विधान चुनते हैं। अर्थ यह कि किसी तंत्र को समेटना, किसी रचना के लिए सुगम मार्ग भी तो नहीं। यही कारण है कि भाववादी रचनाकार तंत्र को नहीं,प्रश्न को नहीं...अनुभूति के एक पक्ष को चुन लेता है।

वैसे तो रचना की अपूर्णता एक प्राकृतिक कारण के तहत भी होती है। जैसे किसी रचनाकार की मृत्यु के कारण उसकी रचना का अधूरा रह जाना। जैसे पृथ्वीराज रासो (चंदवरदाई), कादम्बरी (बाणभट्ट), मंगलसूत्र (प्रेमचंद), इरावती (जयशंकर प्रसाद) तुलसी पर रामविलास शर्मा की अधूरी पुस्तक, वर्ड्सवर्थ की क्व्द्दद्यह्वस्द्द...इत्यादि पुस्तकें। कुछ रचनाएँ इसलिए भी अधूरी रह जाती हैं, क्योंकि वे अपने अधूरे रूप में ही अपने "कथ्य की सम्प्रेषणीयता" पूर्ण कर लेती हैं, जैसे अज्ञेय की 'शेखर : एक जीवनी'। तो कुछ रचनाकारों की अपूर्णता का प्रश्न भविष्य कालिक क्रियाओं व विचार के आश्रित रह जाता है। जैसे व्यास का 'भविष्यपुराण' या श्री अरविन्द की 'फ्यूचर पोएट्री' अपने भावात्मक उद्बोधनों के कारण अपूर्ण हैं। तो क्या हर बड़ी रचना/श्रेष्ठ कृति अपनी अर्थग्राहक्ता में अपूर्ण होती है...और चूंकि वह अपूर्ण होती है...इसलिए वह भविष्य में बार-बार पूर्णता-अपूर्णता के द्वंद्व से परिचालित होती चलती है।

रचना की पूर्णता-अपूर्णता का प्रश्न रचना की प्रकृति और रचनाकार के व्यक्तित्व से भी जुड़ा हुआ है। लोकगीतों, लोककथाओं, वृत्तान्तों में रचना की अपूर्णता के लिए इतना स्पेस अवश्य होता है कि वह अपने में नया जोड़ सकें। इस क्रम में रचना पूर्ण हो, यह आवश्यक नहीं...हाँ किन्तु वह अपनी अपूर्णता के लिए अतिरिक्त स्पेस अवश्य निर्मित कर लेती है। यही कारण है कि सामूहिक वृत्ति को संजोये अधिकांश रचनाएँ अपूर्ण-बनी रहती हैं। बीजक, मानस, गुरुग्रंथ साहिब या ढेरों रचनाएँ इस कथन के प्रमाण में प्रस्तुत की जा सकती हैं। यह भी सही है कि व्यक्ति की मुक्ति, समाज की मुक्ति से ज़्यादा सरल प्रक्रिया है...ठीक उसी प्रकार विशिष्ट मनोभावों से युक्त रचनाएँ सामूहिक मनोभावों से युक्त रचनाओं की अपेक्षा ज़्यादा व्यवस्थित होती हैं।

रचना की पूर्णता और अपूर्णता का एक बिंदु रचनाकार के मानसिक संवेगों

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

की निरंतरता से भी जुड़ता है। कोई रचनाकार एक ही मानसिक संवेग में ज्यादा समय रह लेता है तो कोई ऐसा नहीं कर पाता। एक रचना और रचनाकार का साहचर्य मानसिक संवेगों की निरंतरता के बीच विकसित होता है।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

बड़े लेखकों की 'असफल' (?) कृतियाँ

11.07.2018

आज एक 'प्रिय' मित्र ने बड़े लेखकों की असफल कृतियों पर चर्चा की। उसका प्रश्न था कि आखिर ऐसा क्यों होता है कि कई बार बड़े रचनाकार भी अपनी किसी कृति के प्रति न्याय नहीं कर पाते? आखिर ऐसा क्यों होता है कि एक कुशल कलाकार किसी रचना में अपने को संयोजित नहीं कर पाता? क्या इसका कारण यह है कि वह लेखक आलोच्य कृति के कथ्य को आत्मसात करने से चूक जाता है? या इसके कुछ अन्य कारणहैं? एक लेखक के लिए हर विषय की विशेषज्ञता सम्भव नहीं होती....बावजूद इसके कई बार अपरिचित विषय पर भी अच्छी रचना लिख दी जाती है...इसका कारण कहीं यह तो नहीं है कि लेखक उस विषय से तादात्म्य स्थापित कर सका है! आखिर एक लेखक के लिए हर विषय से तादात्म्य स्थापित करना सम्भव भी तो नहीं है। कई बार कोई लेखक किसी विषय को बौद्धिक स्तर पर उठाता है...पकड़ता है, किन्तु वह उसे 'आत्मिक रूप' तक नहीं पहुँचा पाता। किसी लेखन की सफलता तब होती है, जब उस विषय से लेखक संवेदात्मक रूप से जुड़ कर उसे एक ''वस्तुनिष्ठ बिंदु'' तक पहुँचा दे। प्रश्न है कि लेखन का ''वस्तुनिष्ठ बिंदु'' क्या है? रचना की वस्तुनिष्ठता प्रायः लेखक के किसी विषय के 'आत्मिक प्रभाव' से मुक्त होने में अपना आकार ग्रहण करती है। आत्मिक प्रभाव से मुक्त होने का तात्पर्य यह नहीं है कि रचना और लेखक के बीच आत्मीयतापूर्ण सम्बन्ध नहीं होता...। इसका तात्पर्य यह है कि लेखक और रचना के बीच के रिश्ते 'व्यक्तिगत घरातल' छोड़कर 'सार्वभौमिक रूप' ग्रहण कर लेते हैं। हर रचना के केंद्र में एक तत्व ऐसा होता है, जो केवल वस्तुनिष्ठ आधार पर ही विकसित हो पाता है...हो सकता है। तो क्या एक कुशल रचनाकार कभी-कभी अपनी किसी रचना को 'वस्तुनिष्ठ रूप' देने से चूक जाता है? हाँ ऐसा होता है कि कोई रचना किसी बिंदु पर...कथ्य और कला के स्तर पर ठिठक जाती है...। हाँ कथ्य और कला किसी भी स्तर पर...यह हो सकता है कि कोई रचनाकार किन्हीं बिंदुओं से तादात्म्य स्थापित न

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कर सका हो। कई बार वैचारिक रूप से अत्यंत समृद्ध...संपन्न कृति भी कला के स्तर पर अत्यंत साधारण रह जाती है। 'कला के स्तर पर' यानी विचार के अनुभूति-संवेदना में ढलने के बारीक़ स्तर पर...। अर्थ यह है कि अनुभूति की कच्चाई...वैचारिक अपरिपक्वता या उस विषय के केंद्र तक किसी लेखक का न पहुँच पाना...यह सब वे कारण हैं, जो किसी रचना को कला और कथ्य से लेखकीय तादात्म्य होने से रोक देते हैं।

यहाँ मुझे मित्र द्वारा वर्षों पूर्व की गयी टिप्पणी स्मरण हो रही है, जिसमें उसने एक लेखक की किसी खास विषय पर लिखने की निपुणता का संकेत किया था। मित्र के कथन का निष्कर्ष यह था कि वह लेखक अन्य विषयों के साथ अपना तादात्मय स्थापित नहीं कर पाता। आखिर कोई रचनाकार किसी ख़ास विषय पर ही अपने को अनुकूल क्यों पाता है? या उसकी लेखनी में सजीवता या प्रामाणिकता किसी खास विषय पर ही क्यों आ पाती है? क्या यह लेखक के अपने व्यक्तित्व की अनुकूलता का प्रश्न है? जैसे कोई कवि प्रेम पर अच्छी कवितायें लिखता है तो हम उसके व्यक्तित्व के केंद्र में 'रोमान' को रखेंगे। ऐसा हो भी सकता है और नहीं भी। ऐसा भी हो सकता है कि कोई रचनाकार किसी विषय के राग-रेशे, मार्ग, गंतव्य...या भाव की गहनता से परिचित हो...या उसकी संवेदना से कोई विषय क़रीब बैठता हो...इसलिए भी किसी रचनाकार द्वारा किसी खास विषय पर अच्छा लेखन हो जाता है।

इस सन्दर्भ में यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि महान या बड़े रचनाकारों की 'असफल कृतियाँ' क्या किसी भी दृष्टि से काम्य रचनाएँ नहीं होतीं? तुलसीदास जब 'रामाज्ञा प्रश्नाक्ली' लिखते हैं, सूरदास जब 'साहित्य लहरी' लिखते हैं, केशव जब 'विज्ञानगीता' लिखते हैं....या इसी प्रकार आधुनिक रचनाकारों की कई रचनाएँ...। कहने का अर्थ यह है कि बड़े रचनाकारों की असफल कृतियाँ भी उस रूप में निरर्थक नहीं होतीं, जिस प्रकार कि सामान्य रचनाकारों की असफल कृतियाँ...। कारण यह है कि इन रचनाओं में भी लेखक किसी एक अनुभूति को निबद्ध करने का प्रयास अवश्य करता है। हाँ होता है कि वह अनुभूति या विचार चूंकि सार्वदेशिक रूप से अपना विस्तार नहीं कर पाते...इसलिए वह रचनाएँ बहुविध सम्प्रेषणीयता की प्रक्रिया से वंचित रहती हैं। किसी लेखक की लेखनी जब तक अपने रूप में बहुकोणीय नहीं हो पाती, तब तक वह सार्थक नहीं हो सकती। यहाँ 'असफल कृति' की व्यंजना को समझने का प्रयास करें। असफल कृति का अर्थ बिक्री या सीमित पाठकीयता से नहीं है। पाठकीय दृष्टि के सन्दर्भ में भी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि आज का लोकप्रिय साहित्य भविष्य में अपाठ्य हो जाए या आज की अपाठ्य रचनाएँ भविष्य-दर-भविष्य अपने पाठक

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

निर्मित करती चलें। इसीलिए पाठक और रचना का सम्बन्ध गणितीय ढंग से विकसित नहीं होता। इसीलिए असफल कृति का अर्थ पाठकीय संख्या नहीं है। 'असफल कृति' पद का प्रयोग वैसे तो भ्रामक-सा लगता है, किन्तु बड़े रचनाकारों की असफलता भी बड़ी होती है। ''एक बड़े सपने का अधूरा रह जाने'' जैसी स्थिति ही 'असफल रचनाएँ' हैं। ये रचनाएँ प्रारम्भ तो होती हैं-बड़े विचार, सपने या लक्ष्य के साथ, किन्तु इनमें कथ्य और कला का संतुलन सध नहीं पाता। कभी कला खंडित हो जाती है तो कभी विचार अपुष्ट रह जाता है। मूल प्रश्न यह है कि ये रचनाएँ अपने प्रस्थान को अपना गंतव्य नहीं बना पातीं। फलत: ये निष्कर्षों की भूल-भुलैया में खो जाती हैं। लेखक अपने कथ्य और लक्ष्य में ही उलझ जाता है...ऐसी स्थिति में रचना व्यापक जीवन-दर्शन का संकेत करा करके भी उसे पुष्ट नहीं कर पाती। बड़े रचनाकारों की असफल रचनाओं के सन्दर्भ में एक तथ्य यह भी है कि ''ये रचनाएँ'' एक विशेष मन:स्थिति, भाव, संवेग या विचार की पुष्टि से निर्मित होती हैं। ऐसे में लेखक का ध्यान एक प्रधान विचार को ही पुष्ट करना होता है...अत: इन कृतियों में कभी-कभी लेखक का उद्देश्य रचना के पूर्व काल से ही सीमित होता है। दरअसल इसे इस प्रकार भी समझें कि जैसे हमारे जीवन में हर घटनाएँ प्रतिनिधि नहीं होतीं, उसी प्रकार एक लेखक की हर रचना भी उसकी प्रतिनिधि नहीं बन सकती। तो क्या प्रतिनिधि रचना न बन पाना ही ''असफल रचना'' हो जाना है?

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मुख्य रचना और पार्श्व रचना

19.08.2018

मुक्तिबोध की कहानियों को पढ़ने के दौरान यह प्रश्न उठा कि क्या किसी रचनाकार के भीतर ही 'मुख्यांश' और 'पार्श्व' का द्वंद्व घटित होता है? किसी एक रचना-प्रक्रिया के स्तर पर देखें तो मुख्यांश और पार्श्व के द्वंद्व के भीतर रचना घटित होती है, किन्तु यदि उसी रचनाकर के सम्पूर्ण साहित्य में यह घटित हो तो इसे क्या कहा जाए? मुक्तिबोध की कुछ कहानियाँ (भूत का उपचार,अँधेरे में, विपात्र,अधूरी कहानी चार) उनके पार्श्व की प्रतिनिधि कहानियाँ हैं, जबकि क्लॉड इथरली, ब्रह्मराक्षस का शिष्य, काठ का सपना, सतह से उठता आदमी....उनके मुख्यांश का अंश। क्या यह द्वंद्व हर रचनाकार की रचना-प्रक्रिया में घटित होता है? क्या किसी रचनाकार की अच्छी और घटिया कहानी के बीच मुख्यांश और पार्श्व का द्वंद्व घटित होता है? क्या जिस प्रकार ढेरों प्रयत्न के पश्चात एक वैज्ञानिक अपने शोध में सफ़ल होता है, उसी प्रकार एक लेखक भी ढेरों असफल संयोजन करने के पश्चात एक सफल संयोजन (रचना) में सफल होता है? किन्तु हम वैज्ञानिक की शोध-प्रक्रिया और लेखक की रचना-प्रक्रिया को एक जैसी कैसे कह सकते हैं! एक वैज्ञानिक के असफल प्रयत्न जिस प्रकार एक सफल प्रयत्न के निमित्त होते हैं, उसी प्रकार एक रचनाकार के नहीं होते। एक रचनाकार की हर रचना कथ्य और रचना-प्रक्रिया के स्तर पर भिन्न-भिन्न ढंग से घटित होती है...निर्मित होती है। होता यह है कि असफल रचना (?) अपने वृत्त का निर्माण नहीं कर पाती और सफल रचना ऐसा कर पाती है। एक सफल रचना का वृत्त इसीलिए लेखक के मूल मनोभाव का संकेतक बन जाती है...किन्तु ऐसा उसकी हर रचना में नहीं होता। किन्तु स्मरण रहे कि हर असफल रचना (?) लेखक का 'पार्श्व' निर्मित करने वाली रचना नहीं होती। कई बार कोई एक रचना ही होती है और कई बार ढेरों रचनाएँ मिलकर एक 'पार्श्व' का निर्माण करती हैं। एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या इस प्रकार 'मुख्यांश' और 'पार्श्व' का द्वंद्व हर रचनाकार के भीतर घटित होता है? या यह किसी ख़ास मनोभाव

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

वाले रचनाकारों की रचना-प्रक्रिया के स्तर पर ही घटित होता है? पूर्व में संकेत किया गया है कि एक रचना की रचना-प्रक्रिया के स्तर पर तो यह हर रचनाकार के स्तर पर घटित होने वाली प्रक्रिया है, किन्तु सम्पूर्ण साहित्य के स्तर पर यह कुछ विशेष मनोभाव वाले रचनाकारों में घटित होती है। यह उस रचनाकार की रचना-प्रक्रिया का विशेष अंग होती है, जो नए-नए विषयों का शोधन करता है और उसे नए प्रकार के सामाजिक सत्यों के बीच पहली बार घटित कराता है। जिस रचनाकार के विषय, कथ्य-कथानक और प्रश्न पूर्व के होते हैं, वह अपनी हर रचना को नवीन अनुभूतियों से युक्त करता है/ कर सकता है, किन्तु जिस रचनाकार के प्रश्न,विषय नवीन होते हैं, वह अपनी अनुभूतियों में, रचना-प्रक्रिया में आवृत्ति करता है...और इसी प्रक्रिया में उसकी कई रचनाएँ 'पार्श्व' बन जाती हैं तो कुछ 'मुख्यांश' का हिस्सा...।

कभी-कभी एक रचना के भीतर ही 'मुख्यांश' और 'पार्श्व' का द्वंद्व क्रियाशील रहता है। किसी एक रचना का कुछ अंश ही मुख्यांश होता है, जबकि प्रायः रचना उसी ''मुख्यांश का पार्श्व'' होती है। किसी रचना में कुछ पंक्ति ही केंद्रीय पंक्ति होती हैं, बाकी उसी केंद्रीय पंक्ति का विस्तार होती हैं। किसी सिनेमा के गीत में जैसे एक 'मुखड़ा' (केंद्रीय पंक्ति) होता है, उसी प्रकार एक रचना में कुछ 'केंद्रीय कथन' होते हैं। दरअसल 'मुख्य' और 'पार्श्व' का द्वंद्व जैसे जीवन में होता है, उसी प्रकार रचना में भी होता है। बड़े-से-बड़े रचनाकार की रचनाओं में भी हर पंक्ति केंद्रीय पंक्ति नहीं होती...वह हो भी नहीं सकती, क्योंकि जीवन का बड़ा हिस्सा 'पार्श्व' ही होता है; ''प्रकट का अप्रकट'' ही होता है।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

साहित्य और यश-प्राप्ति : कुछ प्रश्न

25.07.2018

(1)

यश प्राप्ति काव्य-प्रयोजन का केंद्र-बिंदु स्वीकार किया गया है। मम्मट के प्रसिद्ध सूत्र में यश प्राप्ति को साहित्य का प्राथमिक तत्व स्वीकार किया गया है। मम्मट के पूर्व तथा पश्चात के आचार्यों का बड़ा वर्ग यश को ही काव्य रचना का मुख्य प्रयोजन स्वीकार करता रहा है। काव्य-प्रयोजन में कवि द्वारा धन-प्राप्ति के लिए रचना करना स्वीकार किया गया है, किंतु यह कभी का साहित्य का मूल प्रयोजन नहीं रह है। केवल धन के लिए साहित्य सर्जना करना, कभी भी श्रेष्ठ साहित्य के अंतर्गत स्वीकार नहीं किया गया है। हालांकि सामंती युग में राजदरबारी कवि हमेशा से रहे हैं, किंतु उनकी कविता जनता से दूर की कविता रही है। प्रश्न है कि कालिदास, विद्यापति ,चंद...जैसे कवि भी तो दरबारों में रहे हैं, तो उन्हें क्यों न धन के लिए रचना करने वाले कवि के रूप में देखा जाए? दरअसल प्रश्न यह है कि कविता रचना करके धन की प्राप्ति करना एक चीज है और धन प्राप्त करने के लिए कविता करना दूसरी चीज़। कालिदास या इस जैसे कवियों को राजा/ राजकीय संरक्षण अवश्य प्राप्त हुआ, किंतु उनकी कविता का सत्य, संबंध राजदरबारी स्तुति से भिन्न था। विद्यापति जब कीर्तिपताका या कीर्तिलता लिखते हैं तो राजदरबार के प्रभाव में उनकी कविता कई बार कमजोर हुई है। लेकिन पदावली में विद्यापति की लोकधर्मिता ने उनके कवि रूप की रक्षा की है। यहाँ स्पष्ट रूप से समझ लें कि राजदरबार में होना और दरबारी होने में तात्विक भेद है। राजदरबार में होना एक वर्गीय, सामाजिक स्थिति है और दरबारी होना एक चयनित स्थिति है। एक का लक्ष्य अपनी कविता के लिए बड़े केंद्र, माध्यम की खोज है तथा दूसरे का लक्ष्य कविता करके धन कमाना। वस्तुत इन्हीं दृष्टियों की भिन्नता के कारण कालिदास, बाण जैसे कवि देव, मतिराम से भिन्न हो जाते हैं। कहने का अर्थ यह है कि काव्य-रचना द्वारा धन की प्राप्ति द्वितीयक है। कहीं-कहीं तो हीन भी। अब प्रश्न यह है कि कवि अपनी रचना के माध्यम से यश प्राप्ति की खोज किस रूप में करता है? क्या यह मात्र आत्मनिष्ठ

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

चाहत-इच्छा का विषय है? क्या कविता का लक्ष्य मात्र यश प्राप्ति है? और यदि ऐसा हुआ तो फिर साहित्य की जनपक्षधरता का प्रश्न संदिग्ध हो जाएगा या गौण हो जाएगा। मनुष्य मात्र की परिकल्पना होती है कि वह अपनी अनुभूति का प्रसरण करें। इसके पीछे एक कारण तो यह होता है कि उसकी अनुभूति का विस्तार समाज में हो, किंतु उससे आगे या उससे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि कवि समाज के लिए एक नवीन तथ्य, सत्य का पुनराविष्कार करता है। यह नई अनुभूति, सत्य को अभिव्यक्त करना, कवि की वैयक्तिक नहीं, सामाजिक मजबूरी है। यानी कवि बिना लिखे, अपने प्राप्त सत्य को अभिव्यक्त किए बिना नहीं रह सकता। कवि की अनुभूति वैयक्तिक प्राप्ति का प्रश्न भी नहीं है। वह सामाजिक प्राप्ति का प्रश्न है। ऐसी स्थिति में यश प्राप्ति तक सीमित कर कवि अनुभूति को व्यक्तिगत धरातल तक सीमित करना कहाँ तक उचित है? एक सचेत कलाकार/ लेखक मात्र समाज का प्रतिनिधि नहीं होता। इलियट श्रेष्ठ कविता के लिए निर्वैयक्तिकता की बात करता है तो इसका तात्पर्य यही होता है कि एक कवि, कलाकार का व्यक्तित्व ही वह निष्कलुष पात्र है, जहाँ वह शेष रह जाता है। अन्यथा उसका अपना क्या होता है। जैसे एक दृष्टांत के माध्यम से इसे समझने का प्रयास करें तो इसे इस रूप में समझ सकते हैं कि जल को हम जिस पात्र में डालते हैं, वह उसी रूप में ढल जाता है। यानी यहाँ पात्र की भूमिका मात्र उसके स्वरूप तक सीमित हो जाती है या कहें कि कथ्य को विभिन्न शैलियों में ढालने वाले लेखकीय व्यक्तित्व तक सीमित हो जाती है। लेकिन क्या कवि व्यक्तित्व को पात्र की भूमिका तक सीमित किया जा सकता है? क्या कवि किसी पात्र की तरह ही तटस्थ होता है? क्या वह कथ्य को अपनी तरफ से मोड़ नहीं प्रदान करता? या वह रूप नहीं प्रदान करता? निश्चित रूप से यदि हम कवि अनुभूति की बात करते हैं तो हम यांत्रिक वस्तुनिष्ठता की बात नहीं कर रहे होते हैं..समाज की प्राप्ति अनुभूति और कवि की प्राप्ति अनुभूति का, संवेदना का, निश्चित योग ही रचना होती है। श्रेष्ठ कविता में समाज की अनुभूति के क्रम में कवि की अनुभूति का विकास-क्रम स्थिर किया जाता है। यही कवि की जनपक्षधरता प्रकट होती है। यानी कविता का लक्ष्य बदल जाता है। यश प्राप्ति कवि का लक्ष्य नहीं रह जाता...अब कवि का लक्ष्य हो जाता है, समाज की अनुभूति का अपनी साम्वेदनिक साहचार्यता के क्रम में स्थिर करके...उसका प्राकट्य करना। इसी प्रक्रिया में साहित्य का जन्म होता है। यहाँ कवि यश और जनता के लिए लिखे जाने वाले साहित्य की व्यंजना को थोड़े और गहरे रूप में समझने की आवश्यकता है। हर युग का श्रेष्ठ साहित्य जनता के लिए ही लिखा जाता है। प्रश्न यह है कि हमारे समाज में कवि-कर्म के साथ उसका व्यक्तित्व इस प्रकार जुड़ गया है कि कई बार उसे अलगाना भी कठिन हो जाता है। कर्ता-कर्म-क्रिया का त्रित्व रचना-जगत में...कवि-

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रचना उद्देश्य-रचना के रूप में स्थापित हो जाती है। यानी कवि तो कर्म युक्त क्रिया (सार्थक उद्देश्य के साथ रचना) करना करता है, किंतु उसके साथ उसका व्यक्तित्व/ नाम-यश संयुक्त हो ही जाता है। कवि-यश के संदर्भ में एक प्रश्न यह है कि फिर क्या कारण है कि बहुत से लेखक अज्ञात रहते हैं? क्या अज्ञात लेखक के भीतर यश कामना नहीं होती? या उनका रचना कर्म, उनके व्यक्तित्व/ नाम से पृथक हो जाता है? जीवन-समाज की गति के बीच अपने दाय की प्राप्ति से उदासीन लेखक की अज्ञात होते हैं। वे सामूहिक गति में तो अपना योग देते हैं, किंतु स्वयं उस दाय का संग्रह-सहभागिता नहीं करते। इस प्रकार ऐसे लेखकों का कर्म उसके अपने व्यक्तित्व से विलयन पर निर्भर करता है। बहुत से ऋषि, चिंतक, लोक रचनाकारों की युक्तियाँ आज उनके रचना कर्म की साक्षी हैं। इसलिए जरूरी यह भी होता है कि हम अपने रचना-कर्म को अपने व्यक्तित्व से संयुक्त करते चलें। कारण यह कि कोई भी रचना हो, उसका देश-काल संदर्भ भी आवश्यक ही है। यदि हम व्यापक रूप में लेखक के व्यक्तित्व को देश-काल संदर्भ के रूप में समझें तो क्या आपत्ति? आखिर लेखकीय व्यक्तित्व अपने समय का प्रतिनिधि या निचोड़ और (कथ्य का आत्मिक निचोड़) ही तो है।

(2)

प्रश्न है कि यश का संबंध क्या कवि रचनाकार के काव्य-संप्रेषण की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है? यानी कई बार कोई रचनाकार अपने समय में अबूझ बना रहता है या उसकी रचना आगे आने वाले समय में ही संप्रेषणीय हो पाती है। प्रश्न है ऐसा क्यों होता है? क्या ऐसे रचनाकारों के कथ्य अपने समय से आगे होते हैं? या वे अपने समय की प्रवाहमान साहित्यिक पद्धति से भिन्न जा पड़ते हैं? भवभूति जैसा कवि-नाटककार यदि अपने समाज में उपेक्षित महसूस करता है तो इस प्रश्न पर गंभीरता पूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। भवभूति उस समानधर्मी सहृदय की आकांक्षा व्यक्त कर रहे हैं जो उनकी कविता के मर्म को समझ सके। यानी कवि का कथ्य या यश कई बार अपने युग का अतिक्रमण कर जाता है। हिंदी में निराला का यश उनकी काव्य रचना के उत्तरार्ध में फैला या राजकमल चौधरी, भुवनेश्वर, मंटो जैसे लेखक बाद में...क्रमशः यशप्रार्थी होते चले गए। होता यह है कि किसी रचनाकार के कथ्य जल्दी संप्रेषित हो जाते हैं और किसी के बाद के समय में होते हैं। यश-प्राप्ति का एक संबंध कविता के संप्रेषण से जुड़ा हुआ है। हाँ किंतु यश प्राप्ति का मूल प्रश्न कविता में अंतर्निहित जीवन मूल्य या जीवनबोध ही होते हैं। जो कवि को स्थाई रूप से यश के भागी बनाते हैं। संप्रेषण का प्रश्न तो अस्थाई काल का प्रश्न है, किंतु जीवन बोध का प्रश्न स्थाई काल में प्रसारित होते होने वाला है।

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आधुनिककालीन चेतना और परिष्कृत बोध के कारण रीतिकालीन कवियों का यश वहीं रह गया, जो 19वीं-20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों तक था। उस समय देव बड़े या बिहारी, यही साहित्य की केंद्रीय चिंता हो सकती थी; किंतु यह आज का महत्वपूर्ण प्रश्न नहीं रह गया है। वस्तुत: रचनाकार के संबंध में यश प्राप्ति का प्रश्न वर्तमान और भविष्य के अंतर्संबंध के फलसफे पर निर्भर करता है। आज का यशस्वी कभी भविष्य में यशहीन हो सकता है। वर्तमान का बड़ा लेखक यानी जो आज के समय के यथार्थ का प्रवक्ता हो, व्यंग्य लेखक हो, समय के दबाव में लिख रहा हो; भविष्य की काव्य-गति में अनफिट हो सकता है। इसीलिए हमारे यहाँ वास्तविक कवि/ रचनाकार उसे ही कहा गया जो काल की सीमाओं का अतिक्रमण कर चुका हो। यानी कम-से-कम 500 वर्षों की कीर्ति को धारण कर चुका हो। हालांकि अंतिम निष्कर्ष के रूप में इस मत को नहीं मान माना जा सकता, क्योंकि कई कवि इस सीमा में भी नहीं फिट बैठते; बावजूद ऐसा रचनाकार ही...कवि ही यश का भागी हो सकता है। ऐसा प्रश्न इसलिए भी उठता है कि कई बार रचनाकार तात्कालिक आग्रह से युक्त हो रचना करने लगते हैं और वह काल की भविष्य-गति में स्थाई नहीं हो पाते। जैसे सिद्ध-नाथ कवियों में से अधिकांश तात्कालिक शक्तियों से प्रभावित थे। वहीं गोरख-कबीर ने तत्कालीन संवेग को अपने अनुभूत-सत्य के लिए मात्र ऊर्जा रूप में ग्रहण किया। इसलिए भी वे भविष्य के रचनाकार हुए...स्थाई यश के भागी हुए।

(3)

रचना और यश के संदर्भ में एक प्रश्न और महत्वपूर्ण है कि क्या अपने समय में ख्याति प्राप्त रचनाकारों और अपने समय में उपेक्षित रचनाकारों की काव्य-प्रक्रिया में कोई अंतर खोजा जा सकता है? क्या अपने समय में ख्याति प्राप्त लेखक उपलब्ध प्रचलित विषय की गहराई तक जाता है, क्योंकि उसकी प्राथमिक समस्या अपरिचय की नहीं होती, इसलिए भी वह मात्र विषयों, उपलब्ध विषयों को चुनकर उस पर सघनतापूर्वक विचार करता है; किंतु अपने समय में अख्याति प्राप्त लेखक प्राय: अप्रचलित विषय की ओर जाता है। वह प्राय: दुख, विसंगति, करुणा, विडंबना, अंतर्विरोध, त्रासदी...जैसे विषयों की ओर जाता है। तो क्या वह अपने दुख के साथ समाज के दुखों का साधारणीकरण कुछ ज्यादा ही तीव्रता के साथ करता है? कालिदास की समस्या असंगति से ज्यादा 'असंगत में सौंदर्य बोध' जागृत कर देने की है, किंतु भवभूति की समस्या 'असंगत के बीच करुणा' जैसे अप्रचलित दृश्यों-भाव को केंद्रीय रूप में स्थापित कर देने की है। अज्ञेय की मूल समस्या व्यक्तित्व-सृजन और संप्रेषण की है, किंतु मुक्तिबोध की मूल समस्या व्यक्तित्व

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

को निर्मित करने वाली वह नकारात्मक स्थितियाँ हैं, जिसमें फंसकर सृजन होता है। मुक्तिबोध की समस्या इसीलिए संप्रेषण से ज्यादा व्यक्तित्वान्तरण की है। यानी ख्यातिलब्ध साहित्यकार की लेखनी उपलब्ध विचार, भाव के प्रसार की, उसकी वास्तविक उपलब्धता-गहराई, संप्रेषण एवं कलात्मकता की होती है तो दूसरे प्रकार के रचनाकार (उपेक्षित) की समस्या नई जीवन स्थिति की कल्पना, नए भाव-नए संबंध एवं नए विचार के बीच आंतरिक संयोजन स्थापित कर देने की होती है...और क्योंकि इस प्रकार की कथ्यगत भिन्नता होती है। अत: उनकी रचना-शैली में भी अंतर आ जाता है। उपेक्षित रचनाकार की रचना-शैली उलझी हुई, जटिल रूप में होती है; क्योंकि वह अपने कथ्य-अनुभूति को नए रूप में ही कह पाता है। इसलिए भी वह उलझाव का शिकार हो जाता है। मुक्तिबोध, राजकमल चौधरी की कविताओं का शिल्प बेहद उलझा हुआ है। ऐसे रचनाकार बिना जटिल शिल्प के रचना नहीं कर सकते। कारण यह कि वे नए कथ्य को नए शिल्प में ही कह पाने में ही अपने को सक्षम समझते हैं...पाते हैं। राजकमल चौधरी की कविताएँ देखे तो हमारी बात स्पष्ट हो जाएगी। किंतु इस प्रश्न को मात्र कवि की व्यक्तिगत जटिलता के अर्थ में ना समझें। कवि-व्यक्तित्व की जटिलता, सामाजिक जटिलता का ही परिणाम है।

(4)

आजकल रचनाकार की ख्याति और यश का संबंध राजनीतिक हो चला है। विभिन्न लेखक संगठन और उनके लेखक...एक तरह से साहित्य और साहित्यकारों के विज्ञापन कार्य में लगे रहते हैं। वाकई यह विज्ञापन का युग है। इस राजनीतिक विज्ञापन के युग में राजनीति की तर्ज पर साहित्यिक जगत की राजनीति पैदा की जाती है। इस साहित्यिक राजनीति में कोई लेखक बड़ा तथा कोई लेखक छोटा सिद्ध किया जाता है। साठ के दशक को याद करें प्रगतिशील लेखक संगठनों ने किस प्रकार मुक्तिबोध को बड़ा तथा अज्ञेय को छोटा लेखक सिद्ध करने की साजिश रची थी, उससे हम सब परिचित ही हैं। इस प्रयास में अचानक से कोई लेखक यशस्वी तथा कोई लेखक उपेक्षित हो जाता है...और एक बार यह हो गया तो काल के लंबे प्रवाह में ही पूर्व के गलत कार्यों में संतुलन स्थापित हो पाता है।

(5)

रचनाकार और उसकी यश-प्राप्ति का एक संबंध रचना और उसके मनोविज्ञान से भी जुड़ा हुआ है। वही रचनाकार लंबे समय तक यश प्रार्थी हो जाता है, हो सकता है, जिसने मनुष्य-मन की मूल वृत्तियों को रेखांकित किया हो। मूल वृत्तियों के

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रेखांकन को कुछ लोग मनुष्य की दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति समझने लगते हैं, यह चिंताजनक स्थिति है। मूल वृत्तियों का एक सीधा-सा अर्थ काम, क्रोध, घृणा जैसे मन के विकारों से जोड़ लिया जाता है; जो एक हद तक उचित भी हैं, किंतु स्मरण रहे कि एक हद तक ही। मूल वृत्तियाँ साहित्य में आकर वही नहीं रह जाती जैसे कि मनोविज्ञान में होती हैं। मनोविज्ञान में आई हुई मूल वृत्ति साहित्य में आकर भाव-संवेदना के रूप में परिणत हो जाती है। इस प्रकार मनोविज्ञान, साहित्य के लिए कच्चे माल जैसा बन जाता है। आधार स्रोत के रूप में ढल जाता है, बन जाता है। इसलिए भी मूल वृत्ति के अर्थ विस्तार की जरूरत है। जब अज्ञेय कहते हैं कि 'आधुनिक मनुष्य यौन वर्जनाओं का पुंज है' तो वे मनोवैज्ञानिक वक्तव्य दे रहे होते हैं, साहित्यिक वक्तव्य नहीं। साहित्यशास्त्र या काव्यशास्त्र में स्थाई भाव और रस में फर्क किया गया है। हाँ यह सही है कि रस का आधार स्थायी भाव ही होते हैं, किंतु उनकी स्थिति में बहुत अंतर होता है। जैसे रथ स्थाई भाव श्रृंगार रस में, हास, हास्य रस में, शोक, करुण रस में, क्रोध, रौद्र रस में, उत्साह, वीर रस में, भय, भयानक रस में, घृणा/जुगुप्सा वीभत्स में, आश्चर्य, अद्‌भुत रस में, निर्वेद, शांत रस में, वत्सल, वात्सल्य रस में, प्रपत्ति, भक्ति रस में परिणत हो जाता है। यहाँ हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि स्थाई भाव और रस में तात्विक भेद है। स्थाई भाव सामान्य जीवन के मनोविकार है, किंतु रस साहित्यिक जगत के मनोविकार। साहित्य का कार्य सामान्य भाव को विशिष्ट अर्थ प्रदान करना है। जैसे रति भाव एक स्त्री-पुरुष के बीच का मनोविकार है या मूल भाव है; किंतु क्या साहित्य-मात्र में इसी रूप में स्वीकार कर सकता है? साहित्य में रति भाव को आश्रय, आलंबन, उद्दीपन यानी कर्ता-कर्म-क्रिया व सामाजिक परिवेश की प्रक्रिया के बीच रखकर गुजारा जाता है। यानी स्थाई भाव साहित्य के लिए मात्र प्राथमिक हैं, आधार स्रोत। साहित्य की यात्रा स्थाई भाव को रस (संवेदना) बनाने में अपनी सार्थकता तलाशती है। इसीलिए मूल वृत्ति का अर्थ जो लोग मनोविश्लेषण समझते हैं, वह भ्रम और नादानी के शिकार हैं। साहित्य में आकर मूल वृत्तियों का रेचन होता है। वे एक विशेष सामाजिक प्रक्रिया के बीच से गुजरते हैं; फिर भी संवेदना के माध्यम बनते हैं। अतः इसे दूसरे ढंग से समझने की आवश्यकता है। प्रश्न किया जा सकता है कि हर वर्ष के लोकप्रिय लेखक दूसरे शब्दों में यश प्राप्त लेखक कुछ वर्ष पश्चात गुमनामी में क्यों चले जाते हैं? बेस्टसेलर की खिताब से नवाजी गई अधिकांश कृतियाँ अपने प्रकाशन के कुछ वर्ष पश्चात अलोकप्रिय क्यों हो जाती हैं? प्रश्न है कि क्या उनकी कृति तात्कालिक वृत्ति की पूर्ति के सिद्धांत पर रची जाती है? पश्चिम के अधिकांश लेखक किसी एक तात्कालिक-लोकप्रिय समस्या को अपनी रचना का विषय बनाते हैं। फिर वह समस्या पुरानी पड़ी और इधर रचनाकार की कीर्ति। इसलिए मूल वृत्ति

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

की तात्कालिकता और मूल वृत्ति की सार्वभौमिकता के बीच के पार्थक्य को हमें समझने की आवश्यकता है। प्रश्न है कि मूल वृत्ति की तात्कालिकता और मूल वृत्ति की सार्वभौमिकता के बीच मुख्य भेद क्या है? मूल वृत्ति की तात्कालिकताा क्षणिक आवेश, तात्कालिक प्रभाव के प्रतिरूप तक सीमित रहते हैं; जबकि मूल मनोवृत्ति की सार्वभौमिकता का संबंध...प्रश्न बड़े सामाजिक प्रश्न तथा भाव के सृजनात्मक रूप से जुड़े होते हैं। कृतिकार का यश इसी पर निर्भर करता है।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation
Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लेखक-कलाकार का जीवन और साहित्य

08.09.2018

(1)

संसार भर के साहित्य में कलाकार और लेखक के जीवन, उसकी साधना, रचना के विषय बनते रहें हैं। प्राय: यह रचना विषय लेखक की साधना और उसकी सर्जन भूमि को अपने वृत्त में समेटे हुए होता है। किंतु यह रचना की कोई अनिवार्य शर्त नहीं। आत्मकथा, जीवनी, रेखाचित्र, संस्मरण जैसी रचना विधाएँ इस ढंग से तथ्य केंद्रित रही हैं, इसलिए यहाँ हम उपन्यास-कहानी-नाटक जैसी रचनात्मक विधाओं पर ही अपने को केंद्रित करेंगे।

कलाकार/ लेखक के स्तर पर दो प्रकार का साहित्य रचा गया है। एक, जो प्रसिद्ध लेखक/ कलाकार के जीवन-कर्म को केंद्र बनाता है और दूसरे, जो काल्पनिक चरित्रों के आधार पर रचित हुआ है। इस प्रकार दो भिन्न पद्धतियों पर रचित साहित्य, रचना के बिंदुओं पर भी विवेचना की जा सकती है। अमृतलाल नागर ने जब तुलसीदास को लेकर 'मानस का हंस' लिखा या सूरदास को लेकर 'खंजन नयन' उपन्यास लिखा तब उनके सामने दोनों महाकवियों के संदर्भ में पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध थे। हाँ वे साक्ष्य भले ही विवादास्पद हो, किंतु थे तो हैं ही। किंतु जब सुरेंद्र वर्मा 'मुझे चांद चाहिए' में वर्षा वशिष्ठ को केंद्रित करके फिल्मी दुनिया में संघर्षरत एक स्त्री को अपनी रचना का विषय बनाते हैं तो उनके सामने कोई बना-बनाया ढांचा नहीं था। वह एक कल्पित पात्र के सहारे वास्तविक जीवन के चित्र खींचना चाह रहे थे। प्रश्न है कि वास्तविक कलाकारों/लेखकों के ऊपर निर्मित साहित्य और कल्पित कलाकारों लेखकों के ऊपर लिखित साहित्य में क्या भेद होता है? या उनमें से कौन-सा साहित्य, रचना ज्यादा प्रामाणिक होती है? वैसे तो, जैसा कि हम ने पूर्व में कहा, वास्तविक कलाकार और कल्पित कलाकारों पर आधारित साहित्य की संरचना-पद्धति में पर्याप्त भिन्नता होती है, क्योंकि एक के संदर्भ में लेखक उन हिस्सों को ही पकड़ने का प्रयास करता है, जो लोक में प्रचलित हैं, किंतु दूसरी, स्थिति में रचनाकार के सामने किसी विशेष गुण को उभारने की

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रचना समस्या ही मुख्य रूप से हुआ करती है। यह भी स्वाभाविक है कि यदि लेखक लोक ख्यात कलाकारों/ रचनाकारों के ख्यात दृश्यों को ही अपनी रचना का केंद्र बनाएगा तो उसकी रचना किस प्रकार प्रभावी होगी? इसलिए वह ख्यात व्यक्तियों के अख्यात जीवन को अपनी रचना का विषय बनाता है; जबकि दूसरी स्थिति में जीवन को प्रामाणिक बनाने की रचना समस्या लेखक के सामने होती है। अख्यात जीवन-संदर्भ को प्रामाणिक तभी बनाया जा सकता है, जब लेखक-कलाकार की साधना को अपने ढंग से पकड़ सके। अज्ञेय ने अपनी लंबी कविता 'असाध्य वीणा' में सर्जना की समस्या को प्रियंवद नामक पात्र के हवाले से उठाया है। अज्ञेय ने एक कहानी 'कलाकार की मुक्ति' में कला और उसकी चिरंतनता के प्रश्न को उठाया है। एक कलाकार की कला की पूर्णता वस्तुत: उसकी सर्जना के नित्य-नवीन रूप में छुपी हुई है, ना कि उसकी पूर्णता में...। कहानी का नायक पिंगमाल्य अपनी पूर्ण मूर्ति को उठा कर फेंक देता है। मूर्ति का टूटना वस्तुत: कला की पूर्णता का अस्वीकार है। हम कला को किसी एक मानक पर नहीं ढाल पाते, ढाल सकते हैं। कारण यह कि कला अपनी सर्जना में नित-नए रूप में आकर हमें चमत्कृत कर जाती है। ओ हेनरी की एक प्रसिद्ध कहानी 'आखिरी पत्ता' में कलाकार और कला अपनी चेतना / ऊँचाई में शीर्ष पर पहुँच जाती है। कहानी में एक बच्ची के प्राण बचाने के लिए कलाकार अपने प्राण दे देता है। कलाकार की स्वयं की मृत्यु, कला को जीवित कर देती है। पूरी रात ठंड में भीगते हुए वह एक पत्ते का निर्माण करता है। वह कृत्रिम पत्ता जीवंत है। उसकी कला जीवंत बनती है और वह स्वयं अपने जीवन से हार जाता है। वस्तुत: यह कला का आदर्श रूप था, जिसे ओ हेनरी ने अपनी उन्नत कला से अमर कर दिया। इसी का एक प्रति विमर्श मन्नू भंडारी अपनी प्रसिद्ध कहानी 'दो कलाकार' में रचती हैं। 'दो कलाकार' अरुणा और चित्रा नामक दो सहेलियों की कहानी है। अरुणा समाजसेवी है और चित्रा चित्रकार। अरुणा जीवन को कला समझती है वह जीवन में रंग भरना चाहती है, जबकि चित्रा कैनवास पर रंग भरने का हुनर जानती है। एक बूढ़ी भिखारिन की मृत्यु पर बनाए गए एक पोट्रेट से उसे ख्याति मिलती है, जबकि उसी भिखारिन के दोनों बच्चों को गोद लेकर अरुणा जीवन को सार्थक कला में रूपांतरित कर देती है। यहाँ मन्नू कला और जीवन-कला तथा समाज के विमर्श को नए ढंग से पकड़ती हैं। 'कलाकार का घर' श्यामरंजन की छोटी कहानी है, जो एक चित्रकार पर केंद्रित है। यह कहानी एक कलाकार की प्रतिबद्धता को तो बयाँ करती ही है, शायद कलाकार की आर्थिक स्थिति, बदहाली से यह संकेत भी कर जाती है कि हमारे समाज में कला निरंतर सिकुड़ती जा रही है। यशपाल की चर्चित कहानी 'चित्र का शीर्षक' चित्रकार जयराज पर केंद्रित है। चित्रकार को प्रकृति का आकर्षण बिना मनुष्य के नीरस लगने

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लगता है। ऐसे में उसे अपने मित्र की पत्नी नीता के आगमन की सूचना मिलती है। नीता के प्रति सौंदर्य संबंधी अनेक कल्पना वह करता है, किंतु जब वह प्रत्यक्ष उसे देखता है तब उसे निराशा होती है। नीता का बेडौल शरीर और थका चेहरा उसे बेरुखा कर देता है। कहानी के अंत में वह फिर से अपने को ठगा महसूस करता है, जब वह नीता को नए रूप-सौंदर्य में देखता है। 'चित्र का शीर्षक' वस्तुतः कला और सृजन का प्रश्न उठाती है। साथ ही वह पुरुष के स्वार्थ, स्त्री आसक्ति और उसकी रचना-प्रेरणा के प्रश्न को भी उठाती है। जयराज सौंदर्य और जीवन को स्थिर रूप में देखता है, स्त्री का सौंदर्य उसे काल्पनिक उत्तेजना देता है; किंतु एक कलाकार की रचना भूमि का आधार क्या केवल जीवन के सुंदर चित्र ही बनेंगे? इस प्रश्न को कहानी प्रभावशाली ढंग से उठाती है। मोहन राकेश के उपन्यास 'अंधेरे बंद कमरे' हरिवंश-नीलिमा के बहाने जीवन और कला के कुछ प्रश्नों को छूता है। कला केवल फैशन या मन-बदलाव या रुचि का विषय नहीं, अपितु प्रतिबद्धता का विषय भी है, उपन्यास इसका संकेत करता है। इसी तरह पंकज बिष्ट का 'लेकिन दरवाजा' दो नए साहित्यकारों के साहित्य-संघर्ष के बहाने साहित्यिक जगत और खुद साहित्यकारों के अंतर्विरोध की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। इसी ढंग से राजेंद्र यादव की विवादित कहानी 'हासिल' और यशपाल की 'मक्रील' की चर्चा करना प्रासंगिक होगा। 'हासिल' रचनाकार/ लेखक की काम-कुंठा के बहाने साहित्यिक/ व्यक्तिगत अकेलेपन और रचना-भूमि/ प्रेरणा का प्रश्न कौतूहलपूर्ण ढंग से उठाती है। नवल और स्वप्ना संदीप के माध्यम से लेखक ने एक खेल को रचा है, जिसमें स्त्री-पुरुष लेखक-पाठक के शारीरिक संबंध और उसके पीछे के द्वंद्व को उभारा है।

(2)

प्रश्न है कि क्या साहित्य में लेखक/ कलाकारों का चित्रण विशिष्ट अर्थ ग्रहण कर लेता है? एक कलाकार का चित्रण साहित्य में आखिर किस उद्देश्य के तहत कोई लेखक करता है? क्या उसके कार्य-शैली को जानना, उसके रहन-सहन को जानना किसी लेखक का उद्देश्य होता है? यह उसका कोई विशेष उद्देश्य होता है? यदि लेखक अपनी रचना में किसी साहित्यकार/ कलाकार के रहन-सहन, जीवन-पद्धति के विवरण देता है तो वह एक पत्रकार के विवरण से भिन्न क्यों माना जाए? क्योंकि यह तो बाह्य विवरण है। एक चित्रकार की दिन-चर्या सामान्य पाठकों के लिए को कौतुक का विषय हो सकती है, किंतु विशेष पाठक/ सहृदय के लिए तो रचनाकार/ कलाकार का जीवन हमारे लिए इसीलिए महत्वपूर्ण होता है कि हम उसके बहाने एक रचनाकार के रचना-सूत्रों की तलाश कर सकते हैं या उनमें रचना के सूत्र पाते हैं। एक लेखक किन परिस्थितियों में रचना करता है? यह महत्वपूर्ण प्रश्न है। किंतु वह हमारे लिए तभी महत्वपूर्ण बनता है, जब कोई साहित्यकार अपनी

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रचना के माध्यम से यह दिखा दे कि उन परिस्थितियों के भीतर उस लेखक ने किस प्रकार अपनी सर्जना के सूत्र विकसित किए? या परिस्थितियों को सृजनात्मक रूप में कैसे रूपांतरित किया? हाँ यही कारण है कि साहित्य और कला में कलाकार/ रचनाकार के चित्र हमें पर्याप्त मात्रा में मिलते रहे हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि साहित्य में चित्रित कलाकारों/ रचनाकारों का चित्रण केवल आदर्श रूप में ही होगा या वे अपने चित्र में पूरी तरह धनात्मक ही होंगे, नहीं ऐसी अनिवार्यता या बाध्यता नहीं है। राजेंद्र यादव की कहानी 'हासिल' के नवल को स्मरण करें। कहानी पढ़कर आप प्रसिद्ध साहित्यकारों के व्यक्तित्व को संदेह की दृष्टि से भी देख सकते हैं। एक साहित्यकार का आदर्श, लिखा हुआ जरूरी नहीं है कि उसी रूप में, उसी अनुपात में उसके व्यक्तित्व में भी अंट जाए। यहाँ कहानीकार का उद्देश्य रचनाकार के भीतर के द्वंद, उसके रचना के बनने की प्रक्रिया, उसके व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया, रचनाकार-पाठक के रिश्ते को नए ढंग से संयोजित भी करना है। एक साहित्यकार आदर्श का कोई पुतला नहीं है, बल्कि वह अपने अंतर्विरोधों-द्वन्द्वों से लड़ता हुआ एक सर्जक भी है। राजेंद्र यादव 'हासिल' कहानी के माध्यम से यही दिखाना चाहते हैं। इसी प्रकार यशपाल मक्रील कहानी में प्रसिद्ध कवि के एकाकीपन, उसकी प्रसिद्धि और उसके अपने रिक्तता, स्त्री के प्रति पुरुष रचनाकार की दृष्टि, स्वयं की कुंठा (लेखक की) इत्यादि को चित्रित करते हैं। किंतु मात्र इतना चित्रण करना भी कहानीकार का उद्देश्य नहीं है। कहानी में लेखक के व्यक्तित्व का प्रभाव और उसके आंतरिक जगत, रचना-भूमि की हलचल का द्वंद्व भी कहानीकार रचता है। बाह्य प्रभाव का दबाव ज्यादा है और आंतरिक हलचल...रचना-भूमि की प्रक्रिया कमजोर, फलत: कवि की चेतना कुंठित हो जाती है।

प्रश्न है कि साहित्य में कलाकार का चित्रण क्या मात्र कथ्य की मजबूरी है? क्या नवीन कथ्य पर लिखने की लालसा के तहत ही कोई रचनाकार अपनी रचना को किसी कलाकार के जीवन पर केंद्रित कर देता है? मुझे लगता है कि यहाँ कथ्य-विषय का दबाव नहीं है, अपितु सर्जना का दबाव क्रियाशील होता है। एक रचनाकार, कलाकार के बहाने अपनी रचना अंतरसूत्र की भी तलाश करता है। ओ हेनरी की प्रसिद्ध कहानी 'आखिरी पत्ता' की केंद्रीय व्यंजना कला और कलाकार की सार्थकता की तलाश में है। कला अंतत: मनुष्यता-समाज के भीतर आस्था निर्मित करती है और यह व्यंजना इस कहानी के माध्यम से बेहतर ढंग से नहीं कही जा सकती थी। इस व्यंजना का एक धरातल बूढ़ा चित्रकार बैरम है दूसरे स्तर पर ओ हेनरी हैं...तीसरे स्तर पर कला है...चौथे स्तर पर पाठक है...और पांचवें स्तर पर साम्वेदनिक साहचर्यता है। कहने का अर्थ यह है कि कला के चित्र साहित्य में आना कथ्यगत मजबूरी नहीं है, अपितु सर्जनात्मक मजबूरी है।

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रचना-भूमि की तलाश साहित्य और कला की केंद्रीय चिंता है। किसी रचना के बनने का कारण निर्मित होने की आवश्यकता, प्रक्रिया की तलाश...उसके सामाजिक प्रभाव; इन सब के संयुक्त घात-प्रतिघात के हाथ से ही कोई रचना निर्मित होती है। जाहिर है कि रचना की विषय-वस्तु के रूप में यदि लेखक-कलाकार चित्रित होता है तो वह साहित्य के प्रयोजन के प्रत्यक्षत: जुड़ जाता है और किसी दूसरी विषय वस्तु के चित्रण से उसका अपरोक्ष संबंध स्थापित होता है।

(3)

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को 'आत्मकथा शैली' में लिखा है। बाणभट्ट पर लिखा 'साहित्य का श्रेष्ठ उपन्यास।' क्या बाणभट्ट पर लिखना या बाण की शैली को धारण कर लेना ही रचनाकार की सफलता है? निश्चित रूप से यह आख्यान न था, किंतु यह गौण है, बाह्य सफलता है। प्रश्न दूसरे हैं। बाणभट्ट के जीवन का साहित्यिक निहितार्थ क्या है? क्या हो सकते हैं? बाणभट्ट जिस परिवेश में रचना कर रहे थे, काव्यशास्त्र अपने प्रारंभिक दौर में था। नए-नए काव्यशास्त्र विकसित हो रहे थे। रस सिद्धांत, अलंकार सिद्धांत के बीच एक दूसरे पर आधिपत्य स्थापित करने की होड़ मची हुई थी। एक तरफ साहित्य के अपने प्रतिमान रचने हैं तो दूसरी ओर पूर्व के साहित्यिक प्रतिमान के आधार पर रचना भी करनी है। बाणभट्ट ने इस दाय को अपने युग में समझा। लंबे सामासिक पदों की स्थापना बाण युग की साहित्यिक देन, उपलब्धि थी। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' इस प्रकार एक लेखक का जीवन वृत्त नहीं है, अपितु एक लेखक के युग-परिवेश के बहाने किसी लेखक के रचना रूप/ व्यक्तित्व का परिवेशीय उद्घाटन भी है। इस उपन्यास में लेखक/ बाण की रचना-प्रक्रिया-कला के बारे में चित्र नहीं है, केवल उसकी जीवन को, इतिहास को रचा गया है। किसी कलाकार/ लेखक के जीवन का इतिहास घात-प्रतिघात उसके रचना-रूप का निर्माण किया करते हैं। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने इस उपन्यास में इसी प्रकार का वितान रचा है। आचार्य द्विवेदी जैसा सहृदय लेखक किसी रचनाकार की रचना-प्रक्रिया पर संकेत न करे, यह तो आश्चर्य का विषय है। शायद हज़ारी प्रसाद द्विवेदी उस रचनाशीलता के ऐतिहासिक रोमांस के वशीभूत होकर बाणभट्ट पर लिख रहे थे, इसीलिए तो बाणभट्ट की आत्मकथा को पढ़ते हुए कादंबरी का स्मरण आंखों के सामने तैर जाता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में बाणभट्ट का जीवन है, लेखन नहीं। क्या इसीलिए कि यह बाण की आत्मकथा है। एक रचनाकार अपनी लेखन प्रक्रिया के बारे में कैसे लिखेगा?

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कला में चरित्र

10.09.2018

(1)

क्या कलाएँ चरित्रों के उद्घाटन की निर्मिति हैं? या वे केवल परिवेशीय यथार्थ के उद्घाटन के लिए रची जाती हैं? कला का मूल कार्य तो सौंदर्य उत्पन्न करना होता ही है, किंतु क्या कला अपने आप में एक रहस्य की भी सृष्टि करती है? मोनालिसा का चित्र आज भी रहस्य बना हुआ। इसी प्रकार सिंधु घाटी सभ्यता की खुदाई से प्राप्त नर्तकी की मूर्ति, या शिव की मूर्ति...इसी के साथ ही अन्य भी बहुत से उदाहरण हैं। प्रश्न है कि क्या कला में चरित्र, व्यक्तित्व को उभारने के लिए उनकी आंतरिक वृत्तियों को उभारना होता है...और चूंकि आंतरिक वृत्ति के उभार के लिए चित्र, वास्तु, स्थापत्य जैसी कलाओं के पास साहित्य की तरह शब्द नहीं हैं, इसलिए वे चरित्र उद्घाटन में अतिरिक्त सतर्कता रखते हैं...श्रम करते हैं। यानी चरित्र की वृत्तियों को उभारना उसके लिए एक चुनौती बन जाता है।

मानवीय सभ्यता-क्रम में अंतरवृत्तियों के उद्घाटन के लिए साहित्य से पूर्व मनुष्य ने चित्रों की खोज की। गुफाओं-कंदराओं से प्राप्त चित्रों/ ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है कि मनुष्य की अभिव्यंजना मूल रूप से लेखन की रही है। शब्द उसके बाद की कड़ी हैं, यानी कला का मूल चरित्र अंतर्मुखी है। लिखना एक प्रकार से अंतर्मुखी प्रकार्य है। चित्र बनाना एक प्रकार से अंतर्मुखता का ही चिह्न है। मूर्ति बनाना एक प्रकार से अंतर्मुख हो जाना ही है। होशंगाबाद ,भीमबेटका, अजंता, नरसिंहगढ़ इत्यादि की गुफाओं में शिकार करने वाली स्त्रियों, पशु-पक्षी के चित्र मिलते हैं। इन चित्रों का ही शिष्ट रूप आगे विकसित होता चला गया। रामायण, उत्तररामचरितम् एवं सूफी काव्य में चित्रों का बहुतायत प्रयोग मिलता है। सूफी काव्य में जब नायक किसी स्त्री या नायिका, किसी पुरुष के दृश्य को देखकर मूर्छित हो जाती है या उनमें परस्पर प्रेम का उदय हो जाता है तो निश्चित रूप से उनमें भाव भी व्यंजना की क्षमता रही होगी। एक लोक कहानी के अनुसार एक मूर्तिकार को लेने जब यमराज आए तब उसने अपनी मृत्यु से बचने के लिए यमराज से कुछ समय मांगा। नियत

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

समय पर जब यमराज उस मूर्तिकार को लेने आया तो उसने अपने जैसी, अपनी ही कई मूर्तियाँ निर्मित कर ली और स्वयं उन मूर्तियों में जाकर छुप गया। यमराज को भी सभी मूर्तियाँ सजीव व बोलती हुई दिखीं। अर्थ यह है कि कला में भाव की स्थिरता का चित्र नहीं होता, अपितु भाव की गत्यात्मकता का चित्रण होता है। महात्मा बुद्ध के चित्रों-मूर्तियों को लेकर भी लंबा प्रवाद रहा है उनके दत्तचित्र होने और उनके स्मित हास्य को लेकर...। चीन की अपनी कला में उसे 'लाफिंग बुद्धा' का रूप दे दिया। कामसूत्र के चित्रकला प्रकरण में चित्र की अवांतर विशेषताओं में भाव योजना को भी रखा गया है। उदय प्रकाश की अपनी लंबी कहानी 'वारेन हेस्टिंग्स का सांड' में चित्र और भाव की एका का विधान रचा गया है। अत: कला और भाव का अंतर्संबंध तो घनिष्ठ रूप से जुड़ा ही है। यहाँ प्रश्न भाव की गत्यात्मकता और उसकी रचना-प्रक्रिया का है। क्या यह संभव है कि कोई मूर्तिकार/चित्रकार अपनी कला में गत्यात्मक जीवन चित्रों को रूपायित कर सके। क्योंकि चित्र/ मूर्तिकला के संदर्भ में यह माना जाता है कि वह एक विशिष्ट जीवन दशा, कोण को रूपायित करने वाली विधाएँ हैं। अर्थात वह एक स्थिर जीवन के आधार पर ही...आधार बनाकर ही निर्मित होती है। किन्तु क्या यह मत उचित है? इस ढंग से देखें तो साहित्य जिस प्रकार घटनाओं को...प्रक्रिया को...मनुष्य मन के अंतर्द्वंद को पकड़ता है, वह उसे विशिष्ट बनाता है। यह प्रश्न है कि एक चित्रकार/ मूर्तिकार क्या जीवन के हजारों रंग अपनी एक कलाकृति में नहीं डाल सकता? आज जब आधुनिक चित्रकला में अनेक चित्र, रंग आकृतियाँ निशान-चिह्न उभार दिए जाते हैं तो हम हैरान हो जाते हैं। क्या यह प्रयोग सामाजिक चरित्र, व्यक्ति चरित्र की जटिलता को व्यक्त करने के लिए उपाय नहीं हैं? हजारों रेखाओं के परस्पर द्वंद्व से रची गई जटिल चारित्रिक अभिव्यक्ति? यह सब क्या मनुष्य मन गत्यात्मकता को पकड़ने के ही विधान नहीं हैं? प्राचीन कलाओं में भी स्थानीय भेद के अनुसार अनेक शैलियाँ (जैन, पाल, अपभ्रंश ,मुगल, पटना, दक्कन, गुजरात ,राजस्थान ,पहाड़ी, जम्मू ,कांगड़ा इत्यादि) थीं। वे सांस्कृतिक भिन्नता को तो की तो द्योतक थी हैं, साथ ही व्यक्ति के विभिन्न मनोदशाओं की भी सूचक थीं।।

(2)

कला का संबंध क्या कलाकार की स्वयं की परिपक्वता का नहीं है? जिस रूप में कलाकार उन्नत होता जाता है, उसी रूप में मानवीय मनोभावों को पढ़ने की उसकी सामर्थ्य बढ़ती जाती है। जब हम किसी को परिपक्व कलाकार कहते हैं, तो उसका तात्पर्य नहीं होता कि वह रंग-संयोजन की कला में पारंगत हो चुका है; बल्कि इसका गहरा अर्थ यह होता है कि कलाकार अब चरित्र के अनुपात में रंग को

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

ढालना सीख चुका है। वैसे भी कामसूत्र में भाव और रंग-संयोजन सभी को माना गया है। रंग भी जीवन से अलग नहीं है। वे भी जीवन के...मनोविज्ञान के ही प्रतीक हैं। अर्थ यह है कि हर कला, कलाकार के चरित्र को पढ़ने की...समाज को पकड़ने की परिपक्वता का सूचक है। इसीलिए इस प्रश्न पर भी विचार किया जा सकता है कि किसी चित्र में...मूर्ति में, कलाकार जीवन के चरित्र के हजारों मनोभावों को एक साथ अंकित करता है। इस ढंग से कला एक जटिल प्रक्रिया है। साहित्य का अपना अनुशासन इस ढंग से लेखक के लिए सुविधाजनक है, क्योंकि हजारों मनोभावों को व्यक्त करने के लिए लेखक के पास अलग-अलग परिस्थिति, चरित्र-संदर्भ और उसके अनुकूल भाषा होती है।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सौंदर्य आस्वाद की प्रक्रिया-1

11.09.2018

आज एक प्रिय मित्र से सौंदर्य प्रतीति एवं आस्वाद की प्रक्रिया पर बातचीत हुई। मित्र ने सौंदर्य प्रतीति की प्रक्रिया को 'आत्मानुभूति' कहा। सौंदर्य प्रतीति को 'इंद्रियानुभूति का औदात्य' कहा। प्रश्न है कि क्या सौंदर्य प्रतीति की प्रक्रिया को इंद्रियानुभूति से पृथक किया जा सकता है? इंद्रिय हमारे आस्वाद के आरंभिक रूप हैं, किंतु बिना इसके सौंदर्य की प्रतीति संभव नहीं है। जैसे यदि जिह्वा ना हो तो रचना आस्वाद संभव नहीं है, आंखें ना हो तो दृश्य की सुंदरता का कोई अर्थ नहीं अर्थात केवल वर्णन से सौंदर्य की प्रतीति नहीं होती। हालांकि होमर, सूरदास, मिल्टन जैसे कवियों का सौंदर्य वर्णन उनके सौंदर्य प्रतीति की ही अभिव्यक्ति है। सूर के सौंदर्य वर्णन को पढ़कर जन्मांध कवि की परिकल्पना को संदेह की दृष्टि से देखा जाता रहा है। हम इस सिद्धांत में विश्वास करते हैं कि बिना अनुभव के सौंदर्य तक नहीं पहुँचा जा सकता और अनुभव का प्राथमिक चरण इंद्रिय अनुभूति है। सूफी कवियों में जब गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन से प्रेम की उत्पत्ति दिखाया जाता है, तब हम इस विचार को प्रश्रय देते हैं कि नायक-नायिका, स्त्री व पुरुष अपने जीवन के अनुभव से प्रेम व काम जनित अनुभव को जान चुके हैं; यानी उनका चित्र दर्शन, आंख, इंद्रिय, गुण-श्रवण इंद्रियों के ही विस्तार हैं। अर्थ यह है कि हम मानते हैं कि सुंदर प्रतीत के लिए हमें सौंदर्य के आधारभूत प्रत्ययों की समझ आवश्यक है...समझ आवश्यक है।

सौंदर्य आस्वाद की प्रक्रिया के लिए इंद्रिय-अनुभूति एक चरण है। एक महत्वपूर्ण आधार; किंतु सौंदर्य आस्वाद की प्रक्रिया संश्लिष्ट एवं जटिल होती है। सौंदर्य आस्वाद की प्रक्रिया कला एवं साहित्य के सौंदर्य में भिन्न-भिन्न ढंग से होती है। साहित्य में जिस प्रकार हृदय की अवधारणा विकसित हुई थी, उस प्रकार कला के आस्वाद की रचनागत प्रक्रिया की सैद्धांतिकी नहीं निर्मित हुई है। हालांकि कला के आस्वाद के लिए कला की गहरी समझ तो आवश्यक है, किंतु कला के आस्वाद

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
की प्रक्रिया जिस प्रकार एक कलाकार के मानस चेतन में घटित होती है; वैसा एक कला में रुचि रखने वालों के चेतन में घटित नहीं होता। जैसे एक चित्र को देखते हुए कोई व्यक्ति उसी मानस प्रक्रिया से नहीं गुजरता, जिस प्रकार एक कलाकार गुजरता है। एक मूर्तिकार, स्थापत्यकार या चित्रकार रचना-प्रक्रिया की उन्ही प्रक्रियाओं से गुजरता है, जिन प्रक्रियाओं से एक साहित्यकार गुजरता है। हाँ उनकी पद्धति व प्रक्रिया में अंतर होता है, किंतु सृजनकार की रचना-प्रक्रिया के बीच आस्वाद की प्रक्रिया भी साथ साथ चलती रहती है। इसलिए यहाँ हम अपने को रचना के आस्वाद तक ही सीमित रखेंगे...सीमित करेंगे।

एक पाठक जब किसी रचना को पढ़ता है तो वह रचनाकार के मानस धरातल पर पहुँचकर भले ही रचना का स्वाद करता हो, किंतु वह कलाकार की तरह जटिल प्रक्रियाओं से नहीं गुजरता। कम-से-कम बिंब की प्रक्रिया के स्तर पर। एक पाठक रचना के आस्वाद प्रक्रिया में रचना में व्यक्त विंब, विचार, कथ्य, दृश्य को लेखक की दृष्टि से देखता है, इसीलिए पाठक का कार्य लेखक के बिंब तक पहुँचना होता है। किंतु पाठक कई बार रचना में व्यक्त थीम, दृश्य से आगे तक की यात्रा कर लेता है...कर बैठता है। लेखक जिन बिंबो, विचारों के आधार पर किसी दृश्य को ढालता है, कई बार वे पार्श्व में ही रह जाते हैं। इसीलिए लेखक के वैचारिक पार्श्व तक पाठक पहुँचे, यह आवश्यक नहीं। पाठक इसीलिए कई बार लेखक के रचना-पार्श्व के अलग प्रस्थान बिंदु की कल्पना भी कर लेता है। इन्हीं बिंदुओं पर लेखक और पाठक के आस्वाद की प्रक्रिया में अंतर आ जाता है। रचना प्रक्रिया की शुरुआत और पाठक आस्वाद की प्रक्रिया में अंतर हो, यह तो स्वाभाविक ही है। पाठक के आस्वाद की प्रक्रिया में लेखक के कथ्य/ रचना के स्तर तक पहुँचकर सहृदय उन्हीं बिंदुओं तक सीमित नहीं रहता। इस बिंदु/ स्थिति तक आकर पाठक रचना के कथ्य/ दृश्य के तन्मयीकरण की प्रक्रिया से गुजर कर नए अनुभव/ सत्य तक पहुँचता है। लेखक के अनुभव-सत्य के साक्षात्कार के साथ ही पाठक अपने अनुभव के नए वितान भी रचता है। इस प्रकार सहृदय का अनुभव जगत कथ्य के अनुभव सत्य के साथ ही मिलकर नए प्रकार के अनुभूत सत्य का निर्माण करता है।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सौंदर्य आस्वाद की प्रक्रिया-2

13.09.2018

सौंदर्य आस्वाद की प्रक्रिया एक कलाकार के लिए तथा एक सामान्य कला-आस्वादक के लिए एक ही नहीं होती। एक कला आस्वादक किसी कला को अपनी प्राप्त कला दृष्टि से तो देखता है, ग्रहण करता है; किंतु वह कलाकार की कलाकृति को कलाकार के दृष्टि-पथ के आलोक में ही निहारता है, देखता है। किंतु एक कलाकार जब किसी दूसरे की कलाकृति को देखता है तो वह कलाकार की दृष्टि पथ के साथ ही अपनी कला यात्रा के अंतरसूत्र संयोजित करते हुए देखता है। इसीलिए कलाकार का कला आस्वाद विशिष्ट होता है। किंतु कई बार इसी कारण उसके आस्वाद में तल्लीनता कम, चैतन्यता अधिक आ जाती है। यह प्रक्रिया कलाकार के आस्वादन के लिए सहायक और बाधक दोनों बनती है। कलाकार की कला/ कलाकृति जीवन-जगत के अंतरजगत का वैभव विस्तार करने में हमारी मदद करती है। किंतु कई बार उसे वैचारिक बना देती है। जिसमें उसका 'मन' समीक्षक बन बैठता है, क्योंकि साहित्य की तरह कला अपने दर्शक-द्रष्टा के माध्यम से अपनी कला में प्रविष्ट नहीं करती। इसीलिए उस में वैचारिकता प्रवेश के लिए गुंजाइश अधिक होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि कलाकृति में या कला में भाव की प्रबलता नहीं होती। संगीत की तन्मयता में डूब कर हम भावुक हो जाते हैं या किसी आकृति को देखकर भी हमारी आंखें बरबस भीग जाती है, किंतु चूंकि कलाकृति साहित्य की तरह गत्यात्मक रूप में हमारे सामने नहीं आती, इसलिए उसमें प्रवेश के समय हम वैचारिक रूप में ही प्रवेश करते हैं। साहित्य अपने प्रवेश के समय हमारे भाव की अपेक्षा करता है, वही कला अपने प्रवेश के समय हमारे विचारक की अपेक्षा करती है। यह प्रवेश की कला शर्त है। एक अनपढ़ व्यक्ति भी कविता सुनकर आनंदित हो सकता है, रो सकता है, किंतु एक ऐसा व्यक्ति जिसे कला की समझ नहीं है; वह किसी कलाकृति को देख-सुन कर भावुक नहीं हो सकता। उसकी भावुकता, उसकी वैचारिकी या कला समझ के भीतर से आती है।

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कला सबसे पहले हमसे उन्नत जीवन दर्शन की मांग करती है। बिना उन्नत जीवन-दर्शन के कला की समझ नहीं प्राप्त की जा सकती। जो चीज मनुष्य को मनुष्य बनाती है, वह है उसकी कलात्मक चेतना। मनुष्य के जीवन का उद्देश्य मनुष्य का जीवन-दर्शन, उसका लालित्य-बोध यह सब तथ्य कला की उत्पत्ति के कारण बनते हैं। मनुष्य बहुत समय तक भौतिकता, स्थूलता के बीच नहीं रह सकता। कला, मनुष्यता के चेतना, आत्मा को संश्लेषित करती है। इस प्रक्रिया में मनुष्य अब तक की अपनी विकास-यात्रा को वैचारिक-आत्मिक रूप में देखता है। उसके हृदय-स्रोत से तब तक भिन्न-भिन्न कलाएँ फूट पड़ती हैं। इसीलिए प्राथमिक रूप में कला की उत्पत्ति के लिए मनुष्य का आनंद काम नहीं करता, अपितु उसकी मजबूरी काम करती है। बिना कला के मनुष्य अपने को सार्थक रूप में नहीं देख पाता। इसीलिए कला आस्वाद प्रक्रिया में व्यक्ति एक ओर भावक होता है तो दूसरी ओर वैचारिक भी होता है।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कला और सौंदर्य

05.10.2018

आज एक प्रिय मित्र से कला और सौंदर्य के प्रश्न पर बातचीत हुई। मित्र ने कला और सौंदर्य को अलग-अलग ढंग से देखने का प्रस्ताव दिया। मित्र ने सौंदर्य को 'रूढ़ अभिरुचि' कहा तो कला को 'गत्यात्मक अनुशासन' कहा। प्रश्न है कि क्या सौंदर्य रूढ़ता का परिणाम है? या रूढ़ता का अतिक्रमण कर उत्पन्न होता है? मित्र ने मुझे रूढ़ता के बीच उत्पन्न होना कहा तथा अपनी पुष्टि में उसे रूढ़ता के अतिक्रमण में देखा। होता यह है कि हम किसी तथ्य, विचार या व्यक्ति में भी सौंदर्य तभी देख पाते हैं, जब वह कई बार हमारे सामने आए या पूर्व के ढेरों अनुभव -अनुभूतियों से जुड़ें। मनुष्य की महत्वपूर्ण अनुभूति पूर्व की अनुभूति का विस्तार होती है। हालांकि व्यवहार में हमें ऐसा कई बार महसूस नहीं होता। हम किसी दृश्य को देखकर खुश होते हैं, क्योंकि पूर्व के लोगों के अनुभव उस घटना-दृश्य को लेकर सकारात्मक थे, धनात्मक थे; जैसे बाढ़ में भी जल है और नदी तालाब में भी, किंतु बाढ़ का पानी हमें भय उत्पन्न करता है...सुख नहीं देता, क्योंकि उसके साथ पूर्व की अनुभूतियाँ त्रासद है। शेर को देखना हमारे लिए भय का विषय है। हाँ सर्कस या पिंजरे में या कटीली बाड़ में उसे देखना कौतूहल का विषय है, क्योंकि पूर्व की अनुभूतियों से हम यह जानते हैं कि उसमें हमें कोई खतरा नहीं है। सौंदर्य इसीलिए व्यवहार के धरातल पर आवृत्तिमूलक बोध है। कल्पना करें कि कोई पंक्ति हमारे सम्मुख पहली बार आए तो हम उस पंक्ति से आनंदित नहीं होते, अपितु चमत्कृत होते हैं। कई बार लोग कहते हैं कि इस रचना में भाव का नयापन है, इसीलिए सुंदर है। दरअसल होता यह है कि उसमें भाव का नयापन नहीं होता, अभिव्यक्ति का संयोजन नया होता है। अज्ञेय की प्रसिद्ध कविता 'कलगी बाजरे' का संदर्भ लें। यहाँ कवि नए उपमान पर जोर दे रहा है, क्योंकि सौंदर्य उसी से पैदा होगा। ठीक है। लोग प्रश्न करेंगे कि फिर इसमें आवृत्ति कैसे? आवृत्ति यहाँ उपमान की नहीं है, किंतु भाव की तो है ही। एक नायक का अपनी नायिका/ पुरुष का स्त्री के प्रति आकर्षण...प्रेम को

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

नए उपमान के बीच देखना भाव की आवृत्ति नहीं है, तो फिर क्या है? दरअसल मनुष्य का जीवन इतना बड़ा है, विचार इतना बहुविध है कि एक जैसे भाव भी हू-ब-हू आवृत नहीं होते, किंतु मिलते-जुलते रूप में भाव की आवृत्ति तो होती ही है। और जहाँ आवृत्ति होगी, वहाँ समूह होगा, समाज होगा। समूह, समाज के नियम-अनुशासन होंगे। भावों की आवृत्ति का अनूठापन सौंदर्य को उत्पन्न करता है तो सौंदर्य का अनुशासन शास्त्र-कला को जन्म देता है। तो क्या कला द्वितीयक है? सौंदर्य के पश्चात प्रकट होने के कारण ही हम उसे द्वितीयक कह रहे हैं या इस रूप में कि पहले जीवन-समाज है फिर उसका अनुशासन। यानी पहले भाव, फिर कला। तो क्या सौंदर्य वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया है? जहाँ समूह, समाज आ जाते हैं, जुड़ जाते हैं; वहाँ वस्तुनिष्ठता की बात होने लगती है। किसी भाव को जब समूह का बल मिल जाता है, तब उसे वस्तुनिष्ठ कहा जाने लगता है; किंतु सौंदर्य के रूप भी कोई बंधे-बढ़ाएँ रूप में नहीं फिट बैठते। एक भक्त को ईश्वर के रूप में सौंदर्य दिखेगा किंतु एक नास्तिक को? एक नास्तिक को जीवन के संघर्ष-गति के बीच सौंदर्य दिखेगा। बहुधा सौंदर्य मनुष्य के बनने की प्रक्रिया के बीच निर्मित हुआ है। बिना सौंदर्य के मनुष्य पागल हो जाएगा। सौंदर्य ने मनुष्य को चेतना दी...उसे आवृत करना सिखाया...उसे स्मृति बद्ध करना सिखाया, इसीलिए मनुष्य सौंदर्ययुक्त प्राणी बन सका। सभ्यता विकास-क्रम में मनुष्य ने सौंदर्य के विभिन्न रूप स्थिर किया। मनुष्य की अनुभूति विचार-क्रम में रुचि और तत्कालिक संवेदन का प्रश्न भी उभर आता है। खास तरह के रूप, बाल, दांत, नाक, ओंठ, स्त्री के कुच, नितंब, चाल इत्यादि पर एक पूरा का पूरा शास्त्र ही खड़ा हो गया और यह सब सौंदर्य के भाग बन गए। नखशिख वर्णन सौंदर्य के भाग बन गए। प्रश्न है कि क्या यह सौंदर्य भी स्थायी है? समय के साथ व्यक्ति-समाज की रूचि में परिवर्तन हो जाता है, रहन-सहन की पद्धति, खानपान, कपड़े पहने के तरीके, आचार-विचार में परिवर्तन उपस्थित हो जाता है। ऐसे में प्रायः सौंदर्य तात्कालिक अभिरुचि पर केंद्रित हो जाता है और तात्कालिक अभिरुचि में परिवर्तन होने पर वस्तु, तथ्य, विचार भी हमें इतने सुंदर नहीं लगते। दरअसल होता यह है कि हम प्रायः समूह की इच्छा-छवियों के आलोक में अपनी दृष्टि विकसित करते हैं...निर्मित करते हैं। वैचारिक कविताएँ कुछ पाठकों को अच्छी लगती है, किंतु भावात्मक कविताओं का पाठक वर्ग ज्यादा है। इसलिए सौंदर्य का पाठक अनुपात तब तक भावात्मक कविताओं की ओर ज्यादा झुका रहेगा, जब तक कि वैचारिक कविताओं की ओर पाठकों की अभिरुचि निर्माण ना हो जाए। सौंदर्य के इन्हीं अपरिभाषेय क्षणों के बीच हमें कला की आवश्यकता अनुभव होती है। कोई वस्तु हमें अच्छी लगती है, यह तो ठीक है किंतु इस अच्छे लगने के तात्विक कारण क्या है? या अच्छे लगने का शास्त्र क्या है? इन प्रश्नों के

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

उत्तर तलाशने में कला हमारी सहगामिनी बनती है, मदद करती है। किसी कामी व्यक्ति को सभी स्त्रियाँ प्रिय लगती हैं। इस तथ्य के संज्ञान में तुलसी के सूत्र या सूक्त वाक्य हमें मदद पहुँचाते हैं (कामिहि नारि पियारि जिमि)। कला भी एक प्रकार का सौंदर्यमूलक अनुशासन है, जो हमें सौंदर्य के बदल रहे प्रतिमाओं के सापेक्ष परिवर्तन और गत्यात्मकता का मार्ग दिखाते हैं। कला इस प्रकार से गतिशील है, हालांकि गतिशील तो सौंदर्य भी होते हैं, वे किंतु रूढ़ता के माध्यम से गतिशील होते हैं। जिस प्रकार कला गतिशीलता के माध्यम से रूढ़ होती है। कला एक अनुशासन पर निर्भर करती है और ये अनुशासन स्वयं एक व्यापक मनोवृत्ति के आधार पर विकसित होते हैं। व्यापक सामूहिक मनुष्य में एक फैलाव होता है, किंतु इन्हें बार-बार रेचित करना पड़ता है। कला भी यही कार्य बार-बार करती है, इसलिए हर युग की कला बदल जाती है। किंतु सौंदर्य में जैसे रुचि या रूढ़ि या आवृत्ति केंद्रीय भूमिका का निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार कला में रुचि की पद्धति, रुचि की तार्किकता या रुचि का स्थिर रूप...। कोई खास स्त्री हमें क्यों अच्छी लगती है, इसका उत्तर सौन्दर्यचेता व्यक्ति के पास नहीं है। वह इसे रुचि, व्यवहार के रूप में देखेगा, किंतु एक कलाकार या कला इसे व्यक्तिगत रूचि के रूप में केवल नहीं देखती। कला इस व्यक्तिगत व्यवहार, रुचि को सामाजिक अनुशासन का रूप देकर ही संतुष्ट हो पाएगी। कला में वैयक्तिक तत्व सौंदर्य से अलग ढंग से आते हैं। कला सार्वभौमिक मानकों के माध्यम से अपनी यात्रा प्रारंभ करती है। यानी उसमें वैयक्तिक तत्व द्वितीय स्तर पर आते हैं। सैद्धांतिक मानक व्यक्ति की वैयक्तिक रुचियों को प्रभावित करते ही हैं। इस ढंग से कला वैयक्तिक तत्वों को सौंदर्यात्मक निकष का रूप देते चलती है। इस प्रकार कला की वैयक्तिकता सौंदर्य के ही रूप बन जाते हैं।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

गद्य और पद्य के बीच संचरणशील लेखकीय व्यक्तित्व

02.02.2019

किसी रचनाकार के गद्य और पद्य लेखन के बीच के अंतर/पार्थक्य की को देखना दिलचस्प हो सकता है। क्या गद्य और पद्य लेखक के बीच किसी रचनाकार का व्यक्तित्व अलग ढंग से संयोजित होता है? किसी रचनाकार के गद्य और पद्य दोनों विधाओं में समान रूप से लिखने की स्थिति में कौन-सा अनुशासन केंद्रीय रूप ग्रहण कर लेता है? और क्यों? गद्य और पद्य की रचना-शैली के बीच क्या लेखकीय व्यक्तित्व की रचनात्मकता भी परिवर्तित होती चलती है?

प्रश्न है कि क्या गद्य और पद्य लेखक के बीच किसी रचनाकार का व्यक्तित्व अलग ढंग से संयोजित होता है? एक रचनाकार जो गद्य और पद्य दोनों में समान रूप से रचनाएँ लिखता है, उस प्रक्रिया में उसके व्यक्तित्व का संयोजन किस प्रकार होता है? यह तो हम जानते हैं कि किसी रचनाकार के लिए किसी अन्य विधा का चयन उसकी रचनागत बाध्यता/ मजबूरी होती है। बिना इस बाध्यता के लेखक अन्य विधा की ओर नहीं जाता। यदि कोई कवि कहानी विधा या किसी अन्य दूसरी विधा की ओर जाता है तो वह मात्र उसकी इच्छा नहीं होती। वह गहरे अर्थों में कथ्य की अनिवार्य मांग होती है। व्यंग्य का कथ्य कविता में नहीं लिखा जा सकता या नाटक में नहीं लिखा जा सकता। यहाँ कथ्य का अर्थ समझने की आवश्यकता है। कथ्य का अर्थ मात्र विषय या थीम से नहीं है, अपितु उस विषय की पैमाइश या नाप से है। एक कथ्य अपने माप/ विस्तार/ नाप में ही विभिन्न विधाओं में ढल जाता है। जब एक कवि एक ही कथ्य को या अन्य विषयों पर...दूसरी विधा की ओर जाता है तो इस प्रक्रिया में प्रथमतया तो कथ्य का विस्तार होता है (क्योंकि कथ्य के विभिन्न आयाम हैं...) और दूसरे लेखक का आना भी भी नए विषय की गहनता, सघनता और विभिन्न मोड़ों की साहचार्यता में गतिशील होती चलती है। कहते हैं कि कथ्य

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

की व्यापकता लेखक को अवांतर विधाओं की ओर खींच लेती है। प्रश्न है कि क्या जो एक ही विधा में रचना करते करते हैं, क्या वे व्यापक कथ्य से नहीं जुड़ पाते? यह शोध और विश्लेषण का विषय हो सकता है कि एक ही विधा में रचने वाले व्यक्तित्व और कई विधाओं में रचना करने वाले व्यक्तित्व या उनकी रचना-शैली में क्या अंतर होता है? जब हम देखते हैं कि एक ही साथ कई विधाओं में रचना करने वाले जयशंकर प्रसाद, निराला जैसे व्यक्तित्व ने सभी विधाओं के साथ न्याय किया है, तब हम इस निष्कर्ष को कैसे प्रामाणिक मान लें कि एक ही विधा, अनुशासन (गद्य-पद्य) में रचना करने वाले व्यक्तित्व में, उसकी रचना शैली में ज्यादा सघनता होती है। हाँ यह संभावना तो हो सकती है कि केवल कविता लिखने वाला व्यक्तित्व या केवल नाटक, कहानी या उपन्यास लिखने वाला व्यक्तित्व मानवीय अनुभूतियों के विविध मोड़ों को एक ही पद्धति पर ज्यादा सघनता से रेखांकित कर सकता है...मगर यह संभावना ही तो है; फिर कोई वैज्ञानिक माप या वर्गीकरण भी नहीं है कि हम पता लगा सके कि कोई रचनाकार किसी विधा में किस सीमा तक प्रवेश कर सका है? हम किसी रचनाकार का मूल्यांकन करते समय उसके विषय वैविध्य, भाषा, रचना-शैली इत्यादि का वर्णन करते हैं, किंतु हम इस संबंध में किसी वैज्ञानिक एवं गणितीय/ यांत्रिक माप नहीं कर सकते कि उसने किसी विषय को कितने अंशों में अपनी रचना में रेखांकित किया है, इसीलिए कई बार मजबूरी में और कई बार रचना की संभावना के आधार पर हमें लगता है कि आलोच्य रचनाकार किसी विधा में सफल रहा है।

गद्य और पद्य लेखन के बीच क्या यह स्थूल विभाजन हमारी दूर तक मदद कर सकता है कि गद्य की ओर लेखक तब जाता है, जब वह अपनी संवेदना को स्थूलता...विवरण...ब्यौरे में तथा वैचारिक रूप में प्रस्तुत करना चाहता है; जबकि पद्य/कविता की ओर वह तब मुड़ता है, जब उसकी संवेदना को बिम्बात्मक तीव्र आरोहण की प्राप्ति होती है। यह अंतर या विभाजन भी तभी होता है, जब एक ही रचनाकार गद्य और पद्य में समान रूप से लिखता है...अन्यथा केवल कविता या केवल कहानी-उपन्यास लिखने वाले लेखक की मनःस्थिति एक समान ही चलती रहती है। यहाँ लेखक की मन : स्थिति को एक समान कहने का तात्पर्य यह है कि उसकी मानसिक संरचना कथ्य को एक ही अनुशासन में डालने की प्रक्रिया में ही लगातार संचरणशील होते चलती है। हाँ इस संबंध में दो महत्वपूर्ण कारक हो सकते हैं। एक, कथ्य की अपनी आंतरिक संरचना यानी कोई कथ्य केवल कविता, नाटक, कहानी या उपन्यास में ही सृजित हो सकता है तथा दूसरा, किसी रचनाकार की मस्तिष्ककीय संरचना में उपस्थित क्रमिक परिवर्तन या संचरणशीलता।

प्रश्न है कि गद्य और पद्य की रचना-शैली के बीच लेखकीय व्यक्तित्व की

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रचनात्मकता किस प्रकार परिवर्तित होती है? अभी तक हिंदी साहित्य में इस प्रश्न पर विचार कम ही हुआ है कि एक रचनाकार के गद्य और पद्य में किस प्रकार का अनिवार्य संबंध होता है। प्राय: रचनाकार कविता से गद्य की ओर जाते हैं किंतु गद्य से कविता की ओर शायद ही कोई रचनाकार जाता हो। इस ढंग से कविता/पद्य मूल विधा है। गद्य उसका वैचारिक...ब्योरेवार विस्तार है। मुक्तिबोध की कविताओं और कहानियों के बीच तुलनात्मक विचार कम ही हुआ है। या जयशंकर प्रसाद, निराला या अन्य साहित्यकारों के संदर्भ में भी इस प्रकार के अध्ययन न के बराबर ही हुए हैं। यदि किसी साहित्यकार की रचनाओं के कालक्रम को देखा जाए या उसकी थीम का विश्लेषण किया जाए तो हमारे सामने कुछ उपयोगी निष्कर्ष आ सकते हैं। एक लेखक जब गद्य और पद्य में समानांतर रूप से लिखता है, तब कथ्य और विधा के अनुपात में वह अपने रचनात्मक व्यक्तित्व को भी संयोजित करता चलता है। एक लेखक का रचनात्मक व्यक्तित्व निरंतर गतिशील होता चलता है। हाँ उसके व्यक्तित्व, व्यवहार में उसी अनुपात में गतिशीलता आए, यह अनिवार्य नहीं। कई बार लेखक अपने युवा काल के दिनों की अपेक्षा अपने उत्तरार्ध काल में अधिक जटिल और बद्ध होता है; तो क्या इससे यह निष्कर्ष निकाला जाए कि लेखक का रचनात्मक व्यक्तित्व और उसके निजी व्यक्तित्व में अन्योन्याश्रित संबंध नहीं है। और यदि हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं तब तो साहित्य के सिद्धांत की सैद्धांतिकी पर ही प्रश्नचिन्ह खड़ा हो जाएगा। निश्चित रूप से एक बड़ी रचना बड़े व्यक्तित्व की मांग करती है। कई बार लेखक की संवेदना रचना में जिस प्रकार ढलती है, वैसा उसके बाह्य व्यवहार, व्यक्तित्व में नहीं ढल पाती। इसके पीछे लेखक के व्यक्तित्व के अतिरिक्त अन्य कारण भी होते हैं।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कला और संभावना

07.02.2019

आज एक प्रिय मित्र से कला और संभावनामूलक प्रश्नों पर बातचीत हुई। मित्र ने कला को संभाव्य जीवन की अभिव्यक्ति कहा। ऐसा क्यों होता है? कला का मूल कार्य सामाजिक यथार्थ/मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति...संयोजन करना होता है। फिर संभाव्य जीवन स्पंदनों की अभिव्यक्ति उसके मूल में क्यों और कैसे हैं? इस तथ्य को समझे जाने की आवश्यकता है। यथार्थ-से-यथार्थ कला भी इसीलिए ही कलात्मक बनती है, क्योंकि वह संभाव्य होती है। कला में कलात्मकता वहीं आती है, लालित्य वहीं आता है; जहाँ-जहाँ संभावना होती हैं। यथार्थ में कलात्मकता होती तो है, किंतु अपेक्षाकृत कम। यथार्थ में मूल रूप से स्थूलता होती है। स्थूल चीजें कम कलात्मक होती हैं। कम-से-कम अभिव्यक्ति के स्तर पर। कला, कलात्मक और संभावनापूर्ण होती है। कला सूक्ष्म जीवन स्पंदनों की अभिव्यक्ति होती है, इसलिए कलात्मक और संभावना पूर्ण होती है।

कला की संभावना, संभावनापूर्ण जीवन-स्थितियों के चित्रण में ही निहित नहीं होती, बल्कि अपनी संपूर्ण परिकल्पना में होती है। किसी मूर्ति या चित्र के निर्माण में कलाकार एक साथ कई मनोभावों को एक साथ रचित करता है। हमारे मन-मस्तिष्क पर आने वाले कई भाव को मिलाकर मूर्तिकार या चित्रकार एक मूर्ति या चित्र निर्मित करता है। कई भाव मिलकर महाभाव की दृष्टि करते हैं। जैसे साहित्य में महारस की परिकल्पना की गई है, वैसे ही मूर्तिकला-चित्रकला में महाभाव परिकल्पित किया जा सकता है। इस महाभाव की परिकल्पना बिना जीवन की संभाव्य कल्पनाओं के संभव नहीं हो सकती, क्योंकि तब कलाकार केवल अतीत या केवल वर्तमान में घट रही घटनाओं तक सीमित नहीं रहता; अपितु वह जीवन की अतीत-वर्तमान और भविष्य के बीच किसी व्यक्तित्व या पात्र की सक्रिय क्रियाशील मनोवृति को एक साथ पकड़ता है। रचना-प्रक्रिया के स्तर पर कला, लालित्य या कलात्मकता को पकड़ती है और कथ्य के स्तर पर सचेत,

CC-OAgamnigam Digital Preservation
Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

क्रियाशील मन-वृत्तियों को कला में अभिव्यक्त करती है। कला में अभिव्यक्त सचेत मनोवृत्तियों (गत्यात्मक मनोवृत्तियाँ) कई अलग-अलग मनोवृत्ति को एक साथ जोड़ कर बनी होती हैं। चित्र और मूर्ति के संदर्भ में एक मनोरंजक तथ्य, कौतूहल यह है कि आप मूर्ति-चित्र के सामने खड़े हों, अगल-बगल खड़े हों, हर जगह से चित्र-मूर्ति में चित्रित अंकित व्यक्तित्व की आंखें आपको ही देखते मिलेंगी। एक बच्चे के लिए यह कौतूहल की तरह है, किंतु एक समझदार/वयस्क व्यक्ति जानता है कि यह मूर्तिकार-चित्रकार की कला में निबद्ध संभावना है। एक साथ कई चित्रों (मनोवृत्तियों) को जोड़ देने की कलाकार की क्षमता है। एक साहित्यकार कई मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति के लिए एक बड़े दृश्य का वितान रखता है। कई पात्रों को जुटाता है...कई प्रकार के संवाद रचता है; किंतु यही सब कार्य एक मूर्तिकार-चित्रकार को एक चित्र में, एक मूर्ति में करना पड़ता है। इस ढंग से देखा जाए तो कलाएँ ज्यादा चुनौतीपूर्ण होती हैं, क्योंकि साहित्य के पास व्यक्तित्वान्तरण का, कारुणिक बनाने या मनोवृत्तियों के संयोजन का अतिरिक्त अवसर होता है। इसलिए वह हमारे निकट ज्यादा है। मूर्ति-चित्र में एक खास क्षण के बीच मनोवृत्तियों की गत्यात्मकता का सचेत निक्षेप प्रकल्पित किया जाता है, इसलिए यह विशेष विशेषज्ञता की मांग करती हैं। एक कविता या कहानी सामान्य पाठक (अनपढ़) को भी पसंद आएगी, वह उसमें डूब सकता है, किंतु एक चित्र या मूर्ति में डूबने के लिए आपको उस विधा के प्रति विशेषज्ञता रखनी पड़ेगी। कला को देखकर भ्रम होता है कि यह एक खास क्षण को पकड़ने के क्रम में निर्मित होती है, किंतु यह बाहरी/ स्थूल सत्य है। कला किसी खास क्षण के सापेक्ष ढेर सारे क्षणों की संभाव्य उपस्थिति हैं।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

शेक्सपियर और पात्रानुकूल भाषा का प्रश्न

04.04.2019

आम अवधारणा है कि साहित्य में पात्रानुकूल भाषा का व्यवहार होता है (होना चाहिए)। चूंकि भाषा और व्यक्तित्व का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए भी इस सिद्धांत को प्रामाणिकता मिली। यानी हमारा व्यक्तित्व, मस्तिष्क जिस प्रकार विकसित होगा, हमारी भाषा भी वैसी ही होगी। ठीक ही है, एक पढ़े-लिखे व्यक्ति और एक निरक्षर व्यक्ति की भाषा एक समान कैसे हो सकती है? हाँ लेकिन जीवन बोध दोनों का समुन्नत हो सकता है।

शेक्सपियर के नाटकों और भारतीय साहित्य में यह फ़र्क है कि भारतीय साहित्य में जीवन की उक्तियाँ प्राय: रचना के नायक या प्रबुद्ध व्यक्ति या सकारात्मक मनोवृत्ति के मुख से ही कहलवाई गयी हैं, जबकि इसके ठीक उलट शेक्सपियर के नाटकों में जीवन बोध की उक्तियाँ रचना के खल पात्रों के मुख से कहलवाई जाती हैं। इस भिन्नता का कारण क्या है? क्या शेक्सपियर इस मोटे तथ्य से अपरिचित, अनजान थे कि रचना की भाषा पात्रानुकूल होनी चाहिए? नहीं उनके नाटकों की पूरी संरचना को देखें तो हम यह नहीं कह सकते। फ़िर कारण क्या है? क्या इसका कारण यह है कि शेक्सपियर के नाटकों की संरचना छल-छदम, षड्यंत्र, हत्या, राजनीति पर केंद्रित रही है। ऐसी स्थिति में अधिकांश खल पात्रों के संवाद घेर लेते हैं। तो क्या जीवन बोध के संवाद खल पात्रों के मुख से कहलवाना नाटककार की मज़बूरी है? आख़िर इतना बड़ा नाटककार मज़बूर कैसे हो सकता है? इसके अन्य कारण ही हो सकते हैं। इसके दो मुख्य कारण समझ में आ रहे हैं। एक तो यह कि कथ्य के अनुसार षड्यंत्र, जीवन की जटिलता को व्यक्त करने के लिए खल पात्रों का चुनाव आवश्यक था। और दूसरे जीवन की जटिलता,बारीकी (दूसरे शब्दों में महीनी...) या अंतर्विरोध को खल व्यक्ति ज़्यादा तीव्रता से पकड़ता है। एक सच्चा व्यक्तित्व जीवन के प्रति आशावाद रखता है, इसीलिए वह जीवन के अंतर्विरोध, व्यक्तित्व की जटिलता को प्राय: अस्वीकार करता है, उससे पलायन करता है...इसीलिए

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

यह कहना कि सच्चा व्यक्तित्व जटिल जीवन बोध से अनजान रहता है, उचित नहीं है। शेक्सपियर के नाटकों से यह बात भी पुष्ट होती है कि सकारात्मक मनोवृत्ति के व्यक्ति और नकारात्मक मनोवृत्ति के व्यक्ति की कार्य-पद्धति में अंतर होता है। सकारात्मक मनोवृत्ति का व्यक्ति रेखीय गति जैसा आचरण करता है और नकारात्मक मनोवृत्ति का व्यक्ति चक्रीय गति जैसा आचरण करता है। जीवन के ऊँच-नीच, दांव-पेंच को इसीलिए नकारात्मक व्यक्ति ज़्यादा अच्छी तरह समझ लेता है। दरअसल जीवन के उतार-चढाव व जटिलता के सन्दर्भ और व्यक्तित्व के सम्बन्ध को समझना उचित होगा। ऐसा नहीं है कि सकारात्मक मनोवृत्ति का व्यक्ति जीवन-सत्य को नहीं समझता या नहीं समझ सकता। अंतर बस यह होता है कि वह जटिल जीवन चक्रों को भी ''सकारात्मक दृष्टिकोण'' से देखता है। वहीं खल व्यक्ति/चरित्र चूंकि ख़ुद जटिल मनोवृत्ति के होते हैं...चरित्र के गोपन रुप को धारण किए हुए होते हैं...इसलिए भी जटिल जीवन को वे सहजता से ग्रहण कर लेते हैं। सकारात्मक मनोवृत्ति का व्यक्ति जीवन को सहजता में ग्रहण करता है, इसलिए वह जटिल परिस्थितियों को समझ कर भी उससे पलायन कर जाता है। ऐसा नहीं है कि उनमें समझ की कमी है, अंतर मनोवृत्ति व रूचि का है। शेक्सपियर के नाटकों को देखें तो उनमें सच्चे चरित्र या नायक धोखे़ के शिकार हो जाते हैं। यह धोखे़ के शिकार होना दरअसल कथ्य की मज़बूरी से ज़्यादा समाज की मज़बूरी है। उनके नाटकों के नायक आवेगात्मक कथन, वीरतामूलक उक्तियों, उदारतापूर्ण चरित्र धारण किये हुए हैं...और उसी के अनुसार उनके संवादों का चयन किया गया है। किन्तु खल पात्र के संवाद चकित करते हैं। जीवन का इतना गूढ़ ज्ञान सामान्य मस्तिष्क की उपज नहीं हो सकता। इससे तो यही सिद्ध होता है जीवन के सामान्य कर्म और आदर्शात्मक कर्म की संरचना अलग-अलग दिशाओं में संचरण करती है। हाँ इस सम्बन्ध में एक बात अवश्य खटकती है कि जीवन बोध के प्रति ऐसी गहरी उक्ति रखने वाले पात्र जब घृणित-ईर्ष्यालु कार्य करते हैं तो कर्म और व्यक्तित्व के साथ उनके संवादों की संगति नहीं बैठ पाती। शायद इसीलिए भारतीय साहित्यकार पात्रानुकूल भाषा के समर्थक हैं। हाँ लेकिन यह बात यदि स्मरण रखें कि वे खल पात्र षड्यंत्री हैं और उन्हें प्रभावित करने के लिए दूसरों को अपने अनुकूल करने के लिए जीवन के गूढ़ प्रश्नों पर अपनी सम्मति देना अनिवार्य है (कथ्य की भी मांग है...) तो कुछ हद तक समस्या का भी समधान हो सकता है। आख़िर एक जटिल व्यक्तित्व सामान्य आचरण कर भी कैसे सकता है? महाभारत में इसी प्रकार का प्रयोग शकुनि के माध्यम से व्यास ने किया है। लेकिन भारतीय परंपरा में नायक और गौण पात्र के स्पष्ट विभाजन में शकुनि जैसे चरित्रों के लिए स्पेस कम निर्मित हो पाया है। जैसे प्रेमचंद ने गोदान में राय अमरपाल सिंह का चरित्र खींचा है (जिन्हें

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

धीमी आंच पर पका हुआ भोजन स्वादिष्ट लगता है...)। रामायण में वाल्मीकि ने भी रावण को परम विद्वान व्यक्ति के रुप में चित्रित किया है, हाँ लेकिन रावण के संवाद (बौद्धिक व् जीवन बोध से युक्त) कम ही हैं। आखिर ''सौरज धीरज तेहि रथ चाका....'' जैसी उक्ति मानसकार ने राम के मुख से ही कहलवाई हैं। हार्वड फास्ट के प्रसिद्ध उपन्यास स्पार्टकस (आदिविद्रोही) में भी जीवन की यथार्थ पूर्ण स्थितियों की व्याख्या के लिए...व्याख्या करने वाले कुछ यथार्थवादी पात्र रचे हैं। क्या इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि यथार्थवादी रचनाओं के भीतर ही इस प्रकार की संभावनाएँ ज़्यादा होती हैं...जबकि आदर्शवादी रचना में जीवन बोध के प्रवक्ता रचना में नायक ही होते हैं। जैसे रामायण में राम के मुख से निसृत वाक्य...।

शेक्सपियर के पात्रों के सन्दर्भ में यह तथ्य विचारणीय है कि इनके जीवन बोध से संपन्न पात्र यथार्थवादी ज़मीन पर रचे गए हैं। यथार्थवादी रचाव के पात्र एवम् आदर्शवादी रचाव के पात्रों में मुख्य अंतर यह होता है कि यथार्थवादी किस्म के पात्र ''जीवन की वर्तमान जटिलता, जीवन स्थितियों'' पर मुख्यत: आधारित होते हैं, जबकि आदर्शवादी किस्म के पात्र मुख्यत: ''संभाव्य जीवन स्थितियों'' या ''काम्य जीवन संवेदनों'' के प्रवक्ता होते हैं। शेक्सपियर वर्तमान जीवन स्थितियों और उसकी जटिलता के कुशल चितेरे हैं। उनके नाटकों में नायकों का पराभव वस्तुत: आदर्शवाद की पराजय ही है। वर्तमान त्रासदीपूर्ण हो सकता है,किन्तु भविष्य (?)। आज भविष्य के त्रासदीपूर्ण होने की सम्भावना जताई जा रही है, इसलिए साहित्य ,इतिहास, नायक, पर्यावरण, पृथ्वी...सब पर संकट देखा जा रहा है। शायद इसीलिए भारतीय परम्परा भविष्य के सुखद रुप की कल्पना करते हुए 'सुखान्त' की कल्पना करती रही है। क्या भारतीय करुणा और त्रासदी एक ही है या दोनों में कोई गुणात्मक भेद है? करुणा को हमारे यहाँ सकारात्मक मनोभाव के अंतर्गत रखा गया है, किन्तु त्रासदी को पश्चिम में नकारात्मक मनोभाव के अंतर्गत रखा गया है। ''सुख दुःखातमकौ रसः'' सूत्र का तात्पर्य भी यही है। जिस मनोवृत्ति से हमारे हृदय का परिष्कार होता है, वह सुखद है। यानी करुणा सुखद मनोविकार है। इसीलिए रामचंद-गुणचंद ने दुःख को भी मूलत: सुखात्मक ही माना है। हालांकि पश्चिम में भी विरेचन सिद्धांत के आलोक में त्रासदी को उस रुप में नकारात्मक अर्थ में नहीं लिया गया है। आई ए रिचर्ड्स भी त्रासदी पूर्ण स्थितियों भय, हिंसा इत्यादि को ''मनोवृत्तियों के संयोजन'' रूप में ही देखते हैं। लेकिन इस सन्दर्भ में सबसे उचित विश्लेषण यही हो सकता है कि जो भी मनोवृत्ति हमारी वृत्तियों को संयोजित करे, वह काम्य है। शायद यही कुछ आधार रहे हैं, जिसके कारण भवभूति और शेक्सपियर को एक साथ रखकर देखा गया है। यहाँ ठहरकर भवभूति और शेक्सपियर की पात्र संरचना और उनकी भाषा पर विचार किया जा सकता है। शेक्सपियर के तो प्रायः

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सभी नाटकों में मानवीय दुर्बलताओं का यथार्थपूर्ण ढंग से अंकन किया गया है। उनके नायकों के साथ कुछ पात्र ही हैं। वे अति आत्मविश्वास से युक्त हैं...व्यक्तित्व प्रधान हैं। उनके अतिरिक्त अन्य व्यक्तित्वों का एक वर्ग है। इस अन्य वर्ग में व्यक्तित्वों की संख्या ज़्यादा है। वाकई धूर्तता-मक्कारी को समूह की आवश्यकता पड़ती ही है। सम्पूर्ण नाटकों में सत्य-असत्य का संघर्ष है, जिसमें सत्य की पराजय होती है। भवभूति के नाटकों में भी सत्य और असत्य का संघर्ष है, किन्तु यह संघर्ष इकतरफ़ा नहीं है। यहाँ मुख्य पात्र ही जीवनबोध को लेकर चले हैं। यहाँ प्रथम श्रेणी के आदर्शवादी व्यक्तित्व एवम् द्वितीय श्रेणी के यथार्थवादी संरचना से युक्त व्यक्तित्व के पार्थक्य को समझने की आवश्यकता है। भवभूति के आदर्शवादी पात्र राम, परशुराम ही जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये आदर्शवादी चरित्र हैं। जबकि शेक्सपियर के पात्र द्वितीय श्रेणी की बहुलता वाले चरित्र हैं। उनका नायक इसीलिए अपने प्रभाव के साथ चित्रित है, किन्तु बहुलता द्वितीय श्रेणी के व्यक्तियों की ही है। वस्तुत: भारतीय परम्परा ''भरत वाक्य''(सुखान्त, सुखद, आदर्शात्मक संरचना) को धारण करके चलती है। इसीलिए खल पात्रों के मुख से कभी-कभी गूढ़ बातें सुनाई भी पड़ जाती हैं, जैसे 'किरातार्जुनीयम्' में युधिष्ठिर-वनैचर का कथन भारवि ने चित्रित किया है। नाटक में वनैचर को जीवन के व्यावहारिक जीवन का पर्याप्त ज्ञान है, किन्तु वह भी नाटक की मुख्य घटना का अंश नहीं बनता। रावण द्वारा लक्ष्मण को उपदेश देने की घटना भी इसी प्रकार की है। एक तो यह घटना रावण की मृत्यु से पूर्व की है और दूसरे इससे कथानक की संरचना में बड़ा परिवर्तन उपस्थित नहीं होता है। यहाँ हम दो काव्य परम्परा के पार्थक्य को भी देख सकते हैं। पश्चिम साहित्य का प्रस्थान अरस्तु व त्रासदी रही है...उसी प्रकार भारतीय काव्य परम्परा का प्रस्थान भरत व् भरत वाक्य (सुखान्त) रहा है।

शेक्सपियर के पात्रों के गूढ़ कथन के सन्दर्भ में एक तथ्य विचारणीय है। शेक्सपियर के नाटकों में चित्रित खल पात्र द्वारा कही गयी गूढ़ उक्तियाँ जीवन के व्यावहारिक सत्य को तो उजागर करती हैं, किन्तु क्या इसे हम मानव-सत्य कह सकते हैं? जीवन के व्यावहारिक ज्ञान और वास्तविक ज्ञान में फ़र्क होता है। मनुष्य का ज्ञानात्मक कर्म वह होता है, जिसमें वह वर्तमान के आगे के सत्य को पाने के लिए उर्ध्वोन्मुख आचरण करता है। इस दृष्टि से, जैसा कि कहा जा चुका है कि, व्यावहारिक जीवन की जटिलता का चित्रण जीवन बोध का सही प्रतिनिधित्व नहीं कर पाता। हैमलेट का मुख्य खलपात्र नाटक के प्रारम्भ में ही जीवन के गूढ़ार्थ सत्य पर लंबा भाषण देता है...इसी प्रकार शेक्सपियर के सभी नाटकों के मुख्य खल पात्र करते हैं। यह शेक्सपियर की सीमा भी हो सकती है तथा उनके कथ्य (कथानक) की मज़बूरी भी। शेक्सपियर ने मानवीय मन की दुर्बलताओं का जिस बारीकी से चित्रण

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

किया है, उस धरातल पर वह विश्व का सर्वश्रेष्ठ नाटककार (साहित्यकार) है। किन्तु मानवीय मन के उर्धोन्मुख सम्भावना पर वह अपनी लेखनी नहीं चलाता है। उनके नाटक के नायक भी देवत्व की विशेषताओं से युक्त हैं, किन्तु व्यावहारिक जगत की जटिलता से हीन हैं। यानी सिद्धांत/आदर्श को व्यावहारिकता का आलंबन चाहिए ही होता है। शेक्सपियर के नाटक हमारा ध्यान इस ओर खींचते हैं। तुलसी के राम भले ही संत रुप में (वैराग्यपूर्ण उदारता से युक्त) चित्रित हुए हैं, किन्तु वाल्मीकि के राम तो व्यावहारिक जगत की जटिलता से सर्वथा परिचित हैं। वाल्मीकि के राम को भरत तथा कैकेई पर अविश्वास है। राम, सीता को समझाते हुए कहते हैं-''मेरे वन चले जाने पर तुम भरत के सामने मेरी प्रशंसा मत करना। बात यह है कि ऐश्वर्य वाले लोग दूसरे की स्तुति को सहन नहीं करते (ऋद्धि युक्ता हि पुरुषा न सहन्ते परस्तवं।।), इसलिए तुम भरत के आगे मेरे गुण न कहना।'' महाभारत के उधोग पर्व में युधिष्ठिर ने कृष्ण से नीतियुक्त वचन कहे हैं। ध्यान देने वाली बात यह है कि राम तथा युधिष्ठिर दोनों सत्य और धर्म पर चलने वाले व्यक्तित्व हैं। उधोग पर्व में ही कुंती कहती हैं-''हे युधिष्ठिर! पिता से प्राप्त तुम्हारा जो अंश (हिस्सा) डूब गया है, उसका साम, भेद, दाम, दंड अथवा नय किसी उपाय से उद्धार करो।'' विदुला-पुत्र संवाद के माध्यम से कुंती पांडवों को नीतिपूर्वक (व्यवहार नीति) राज्य वापस लेने को कहती है। अंत में उसका वाक्य है-''मुहूर्त ज्वलिंत श्रेयो न च घूमायितं चिरम्।।''(उद्योग पर्व, 333)। महाभारत में विदुर नीति प्रसिद्ध है ही। महाभारत के आदिपर्व में कणिक ने कहा है कि-''अपनी दुर्बलता प्रकट न होने दें; परंतु दूसरे के छिद्र या दुर्बलता पर सदा ही दृष्टि रखे और यदि शत्रुओं की निर्बलता का पता चल जाए तो उन पर आक्रमण कर दें।।'' व्यास के कृष्ण तो सिद्धान्त और व्यवहार के संतुलन पर विकसित ही किये गए हैं। इसी प्रकार कालिदास ने अपने नायकों को व्यावहारिक धरातल प्रदान किया है। अन्य नाटककारों,यथा भवभूति, भास, भारवि, माघ, बाण, श्रीहर्ष के नायक भी व्यावहारिक जगत की जटिलता से हीन नहीं हैं। भारवि के युधिष्ठिर या भीम में पर्याप्त व्यावहारिकता है। कालिदास के नायक भी शास्त्रज्ञ होने के साथ ही बहुश्रुत एवम् व्यावहारिक कर्म ज्ञान से युक्त हैं। कालिदास ने राजा दिलीप के गुणों का वर्णन करते हुए लिखा है-''शिष्ट आदमी शत्रु होने पर भी उन्हें प्रिय था-जैसे रोगी को औषधि प्रिय होती है। दुष्ट व्यक्ति प्रिय अर्थात् संबंधी होने पर भी वैसे ही त्याज्य था जैसे सर्प से कांटी गयी उंगली। (रघुवंश)। अज की विशेषताओं का वर्णन करते हुए कालिदास ने लिखा है-''वह न तो कठोर ही था, न बहुत मृदु। मध्यम मार्ग का अवलम्बन करके उसने दूसरे राजाओं को झुकाया तो, पर नष्ट नहीं किया-जैसे पवन वृक्षों को न उखाड़कर सिर्फ़ झुका देता है।'' (रघुवंश, 8वां सर्ग)। वस्तुतः कालिदास के नायक व्यावहारिक पक्ष का ज्ञान

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रखते हुए भी मूलतः सौंदर्यवादी-आदर्शवादी ज़मीन पर चित्रित किये गए हैं। इस ढंग से भारवि-माघ का वर्णन ज़्यादा विश्वसनीय है। किरातार्जुनीयम् में दुर्योधन का चरित्र वर्णन छल-कपट युक्त सात्विक कर्म की विशेषताओं को धारण किये हुए है। किरातार्जुनीय में युधिष्ठिर को समझाते हुए द्रौपदी कहती है-''जो मायवियों के साथ माया का व्यवहार नहीं करते, उन्हें शठ लोग घुसकर वैसे ही नष्ट कर देते हैं; जैसे कवच से अनारक्षित शरीरवालों को तीक्ष्ण बाण।'' इसी प्रकार भारवि ने भीम-युधिष्ठिर संवाद में भी भीम द्वारा नीतियुक्त वचनों को कहलवाया है। भीम के कथन का प्रत्युत्तर देते हुए युधिष्ठिर नीतियुक्त ज़वाब देते हुए कहते हैं-''दुर्योधन अहंकारी तथा दर्पयुक्त प्रकृति का है; ऐसे व्यक्ति में कार्य-अकार्य का ज्ञान नहीं होता और वह क्रमशः न्याय और नीति के मार्ग से हट जाता है। उस दशा में लोग अवश्य ही उसके प्रति विरक्त हो जाते हैं।'' इसी प्रकार महाकवि माघ ने ''शिशुपालवध'' में बलराम को नीति एवम् व्यावहारिकता से युक्त चित्रित किया है। उनका कथन है-''क्रोधयुक्त मनुष्य में वैर-भावना जगाकर जो लोग निश्चिन्त हो रहते हैं, वे उनकी तरह हैं जो घर में जलती आग डालकर हवा की ओर मुख करके सोते हैं।'' इसी प्रकार माघ ने उद्धव के मुख से भी नीतियुक्त कथनों को कहलवाया है। इस प्रकार के उदाहरणों को यहाँ रखने का तात्पर्य यही है कि भारतीय साहित्यकार अपने नायकों में जिस प्रकार वीरत्व पूर्ण आदर्श के साथ नैतिक-व्यावहारिक समझ रख कर चलते हैं, वैसा शेक्सपियर नहीं करते। उनके नायक निस्संदेह वीरत्व, नैतिकता एवम् मानवीय गुणों से युक्त हैं, किन्तु वे जीवन के बहुविध पक्षों से अछूते हैं। वस्तुतः जीवन-विवेक का प्रश्न तो किसी व्यक्ति के बहाने उसकी जातीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व भी करते हैं। इस ढंग से ''सांस्कृतिक पाठ'' के सन्दर्भ में शेक्सपियर के नायकों और भारतीय नायकों को देखना युक्तियुक्त होगा। यह बड़ा विचित्र अंतर्विरोध है कि जिस पश्चिमी जगत की व्यावहारिकता की प्रशंसा की जाती है, उसके सबसे बड़े साहित्यकार के नायक व्यावहारिक तुला पर फ़ेल हो जाते हैं तथा जिस भारतीय संस्कृति को भ्रमवश आध्यात्मिक या विरागी संस्कृति कह या समझ लिया जाता है, उस संस्कृति के नायक परम नीतियुक्त व्यक्तित्व से युक्त हैं।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लेखन और व्यक्तित्व का अंतर्संबंध

15.04.2019

लेखन और आलोचना में व्यक्तिगत रुचि-अभिरुचि, पूर्वाग्रह और समसामयिक विषय जैसे शब्द बहुचर्चित रहे हैं। कोई लेखक किन विषयों पर रचना करेगा, यह तय नहीं कर सकते; खासकर कविता में। हालांकि कहानी, उपन्यास जैसी गद्य विधाओं में लेखक का व्यक्तित्व-विचारधारा उसके लेखन को एक हद तक नियंत्रित-अनुशासित करते हैं। इसीलिए तो कोई लेखक कुछ खास निश्चित वर्ण्य विषयों पर ही अपनी लेखनी चलाता है। किंतु कविता जैसी विधा में विचारधारा-व्यक्तित्व की निश्चित भूमिका होते हुए भी कवि के वर्ण्य विषय बहुत फैले होते हैं, व्यापक होते हैं। कवि पहले से सोचकर किसी विषय पर कविता कम ही लिखता है। उसके विषय ही उसे कविता के लिए आमंत्रित कर लेते हैं। गद्य और पद्य की संरचना ही ऐसी है कि उसमें विषय और व्यक्तित्व का अंतर्संबंध नए ढंग से हमारे सामने उपस्थित हो जाता है।

प्रश्न है कि क्या किसी विषय का चुनाव लेखक की रुचि/ व्यक्तित्व का प्रश्न मात्र है? क्या लेखक और आलोचक के विषय चुनाव में अंतर होता है? क्या विषय के चुनाव के पश्चात लेखक के व्यक्तित्व और दृष्टि सक्रिय होती है या उसके पूर्व भी सक्रिय होती है? लेखक न मात्र किसी रुचि-अभिरुचि का परिणाम है और न ही एक निश्चित व्यक्तित्व/बद्ध-व्यक्तित्व का परिणाम है। किसी लेखक के संदर्भ में यह नहीं कहा जा सकता कि उसका व्यक्तित्व पूरी तरह से या संपूर्णता में विकसित या बन गया है...और जब किसी रचनात्मक व्यक्तित्व के बारे में हम किसी निर्णय...निष्कर्ष तक नहीं पहुँच सकते, फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि किसी विषय के चुनाव में मात्र उसका पूर्वाग्रह या व्यक्तित्व क्रियाशील होता है? आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सूर, तुलसी और जायसी पर स्वतंत्र रूप से आलोचनात्मक पुस्तकें लिखी, इस तथ्य से हम सब परिचित हैं। इस तथ्य से यह तो हम अनुमान कर सकते हैं की आलोच्य कृति या आलोच्य कवि आलोचक आचार्य को प्रिय हैं,

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

किंतु केवल यही प्रिय हैं, ऐसा हम नहीं कह सकते। उनके इतिहास को देखें तो घनानंद, भारतेंदु, रहीम, प्रेमचंद, सुमित्रानंदन पंत जैसे अन्य रचनाकार भी हैं, जो उन्हें प्रिय हैं। ऐसी स्थिति में रुचि-अभिरुचि का प्रश्न प्राथमिकता के आधार पर तो देखा जा सकता है, किसी निष्कर्ष के आधार पर नहीं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सूर पर पहली पुस्तक लिखी। फिर कबीर पर और फिर कालिदास पर...। तो इससे हम क्या निष्कर्ष निकालें? और फिर वह अंतिम में तुलसी पर भी लिखना चाह रहे थे! क्या इससे स्वयं आलोचक के व्यक्तित्व का प्रामाणिक ज्ञान हो सकता है? बहुधा रचना का विषय लेखकीय व्यक्तित्व से उस धरातल पर अंतर्संबंध होता है, जहाँ वह उस रचना के बहाने अपनी रचनात्मकता को विकसित कर पाने में अपने को अनुकूल पा रहा है। तुलसी पर लिखना आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अपने साहित्यिक प्रतिमान के विकास के लिए भी आवश्यक था, ठीक उसी प्रकार जैसे कबीर पर लिखना हजारी प्रसाद द्विवेदी के आलोचकीय प्रतिमान के लिए। कई बार किसी रचनाकार पर किसी आलोचक का लिखना प्रियता (हालांकि वह भी आत्मनिष्ठ नहीं) का विषय हो सकता है, किंतु प्राय: वह अपने साथ लेखकीय व्यक्तित्व का प्रस्फुटन ही होता है। कालिदास की लालित्य योजना की तलाश हजारी प्रसाद द्विवेदी की अपनी रचनात्मकता की तलाश थी। एक आलोचक जब किसी रचना/व्यक्तित्व पर लेखन के लिए प्रवृत्त होता है, तब उसमें यह कारण सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है कि उस बहाने वह अपने आलोचनात्मक सूत्र तलाश सकेगा। रामचरित्र पर लिखना निराला के लिए क्या विषयगत मजबूरी थी? और फिर वह तो तुलसी की तरह भक्त परंपरा के रचनाकार भी न थे और न ही राम भक्तों की परंपरा में थे; बावजूद उन्होंने राम को नायक बनाकर 'राम की शक्ति पूजा' जैसी महत्वपूर्ण कविता लिखी। क्या राम के चरित्र के बहाने उन्होंने संघर्षशील नायक के औदात्य, व्यक्ति मन की अपराजेयता को तलाशना कवि का उद्देश्य न था? हाँ आप चाहे तो यह कह सकते हैं कि कृष्ण का चरित्र उस रूप में आलोच्य कविता का केंद्र न बन सकता था। किंतु प्रश्न यह है कि फिर उस कविता का निर्माण/ निर्मिति ही क्यों हुई? यहाँ कवि का उद्देश्य राम का चरित्र चित्रण करना न था, बल्कि 'राम की शक्ति पूजा' के बहाने मानव-मन, सर्जना, संकल्पशक्ति की तलाश करना ही है। आप चाहें तो कह सकते हैं कि फिर यह तलाश निराला के माध्यम से ही क्यों हमारे सामने आती है? जयशंकर प्रसाद या पंत के माध्यम से क्यों नहीं? इस प्रश्न का उत्तर सीधा भी है और जटिल भी। हर रचनाकार अपने व्यक्तित्व के अनुकूल अपने विषय को संदर्भित करता है। पंत का व्यक्तित्व मनुष्य की गतिशीलता में निर्मित हुआ है। प्रसाद जीवन मूल्यों की तलाश दर्शन, इतिहास के गूढ़ सत्यों में करते हैं। यहाँ व्यक्तित्व को हम विषय का बाह्य अनुशासन...रचनात्मक अनुशासन समझे तो बात

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

थोड़ी और स्पष्ट हो सकती है। किसी रचनाकार के लिए किसी खास विषय पर लिखने की रचनागत बाध्यता नहीं होती, अपितु उस विषय पर खास दृष्टि से लिखना उसकी रचनात्मक बाध्यता होती है। किसी विषय पर (आलोच्य विषय) खास ढंग से लिखने की बाध्यता वस्तुतः रचनाकार का व्यक्तित्व निर्धारित करता है। यह लेखन का ठाठ, ट्रीटमेंट रचनाकार के व्यक्तित्व का उपार्जित सत्य है। एक ही विषय पर, एक ही युग में अलग-अलग ढंग से लिखना मात्र रचना-शैली का प्रश्न नहीं है; अपितु रचना-व्यक्तित्व का प्रश्न है। वैसे तो रचना-शैली और रचना-व्यक्तित्व में मूलभूत अंतर नहीं है, किंतु दोनों में प्रक्रिया-स्वरूप का अंतर तो है ही। रचना व्यक्तित्व ही रचना-शैली की नियामक बन जाया करती है। रचना व्यक्तित्व आधारभूत प्रक्रिया है, संरचना है। लेखकीय शैली उस व्यक्तित्व का प्राप्य है। इसीलिए रचना व्यक्तित्व की गत्यात्मकता की प्रक्रिया हमेशा चलती रहती है। एक रचनात्मक व्यक्तित्व कभी बद्ध नहीं होता...वह निरंतर गतिशील होता है। इसी प्रक्रिया के तहत विषय के चुनाव की प्रक्रिया भी संपन्न होती है और विषय के ट्रीटमेंट की भी। विषय-निर्माण की प्रक्रिया में लेखक का अपना व्यक्तित्व भी स्वयं संयोजित होता चलता है। महान विषय, औदात्य विषय अपना वृत्त भी निर्मित करते हैं। सामान्य विषय पर भी अच्छी कविताएँ लिखी जा सकती है। हाँ शर्त यह है कि वह सामान्य विषय अपनी रचना-प्रक्रिया में औदात्यपूर्ण ढंग से चित्रित हो पा रहा है या नहीं। और वास्तविक बिंदु यही है। ओ हेनरी की प्रसिद्ध कहानी 'आखिरी पत्ता' विषय की दृष्टि से सामान्य कहानी है, किंतु अपने ऊर्ध्वगामी प्रक्रिया में कहानी बहुत ऊँचे चली जाती है, ठीक उसी प्रकार लेखककीय व्यक्तित्व भी विषय के सापेक्ष बढ़ता चलता है। एक रचनाकार का रचना अनुभव उसे समृद्ध तो करता ही है, किंतु इसका कोई वैज्ञानिक नियम नहीं बनाया जा सकता। एक लेखकीय व्यक्तित्व अपने समस्त रचना अनुभव (विषय...)प्रक्रिया) का कोई एक सूत्र बनाकर धारण नहीं कर सकता। वह अपने व्यक्तित्व में कुछ चुने हुए प्रत्यय ही धारण कर सकता है। यह बाध्यता ही लेखकीय व्यक्तित्व को रोचक, जीवंत और गतिशील बनाती है।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कलाकार का आस्वाद और पर्यवेक्षण-अभिव्यक्ति का प्रश्न

07.07.2019

आज एक प्रिय मित्र से कलाकार के आस्वादन, पर्यवेक्षण और अभिव्यक्ति के प्रश्न पर बातचीत हुई। मित्र ने कलाकार के आस्वादन-पर्यवेक्षण की प्रक्रिया को सामान्य व्यक्तित्व के समान ही कहा, किंतु उसके आस्वादन में अभिव्यक्ति को विशिष्ट कहा। एक कलाकार और एक सामान्य व्यक्ति एक ही चीज, एक ही तथ्य, एक ही दृश्य को देखते हैं; किंतु उनके आस्वाद की प्रक्रिया की पद्धति व अभिव्यक्ति भिन्न होती है। कलाकार और सामान्य व्यक्ति एक ही दृश्य को अलग-अलग ढंग से ग्रहण करते हैं। क्या वाकई ऐसा होता है? किसी सुंदर प्राकृतिक दृश्य या सुंदर स्त्री/पुरुष को देखने पर एक कलाकार उससे मात्र बाह्य ढंग से ही नहीं ग्रहण करता। कलाकार किसी दृश्य को, वस्तु को उसके आदिम रूप में, मूल रूप में देखता है...आस्वाद करता है। यह काम सामान्य व्यक्ति नहीं करता। एक सामान्य व्यक्ति किसी बिम्ब को, दृश्य को, घटना-स्थिति को वर्तमानकालिक बिंब के रूप में देखता है, किंतु कलाकार 'आदिमबिम्ब' की सृष्टि करता है। किसी विचार, घटना, स्थिति को कलाकार उसके प्रस्थान रूप में ढालता है। इस प्रकार एक ही दृश्य सामान्य व्यक्ति के स्तर पर और कलाकार के स्तर पर अलग-अलग भूमिकाएँ ग्रहण कर लेते हैं। सामान्य व्यक्ति का वर्तमान दृश्य में अवस्थित बिंब अपने मूल रूप से सौंदर्य से कटा हुआ होता है, इसीलिए वह अपने बिंब को, अनुभव को दीर्घकालिक प्रक्रिया का अंग नहीं बना पाता। कलाकार दीर्घकालिक प्रक्रिया के बीच जीता है। इसीलिए वह अपने द्वारा देखे गए दृश्य को...घटना को अलग ढंग से आस्वाद करता है। एक प्राकृतिक दृश्य, झरने, जल, नदी, तालाब, सूर्य, चंद्र, तारे या ऐसे ही दृश्य जब एक कलाकार देखता है, तब वह नदी...तालाब...सूर्य,चंद्र...इत्यादि को केवल इंद्रिय तक सीमित नहीं रखता। एक कलाकार अपने इंद्रिय संवेदना को आत्म संवेदन में ढालता है...रूपांतरित करता है। प्रश्न है कि ऐसा क्यों होता है? क्या कलाकार के लिए इंद्रिय संवेदन से आगे जाना उसकी कला के लिए आवश्यक है। एक कलाकार

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सबसे पहले सौंदर्य को उसके प्राकृत रूप में ही ग्रहण करता है, किंतु उसका यह प्राकृतिक रूप में किसी चीज को ग्रहण करना भी बहुत सरल नहीं होता। एक कलाकार किसी चीज को जब प्राकृत रूप में देखता है, तब वह उसे अपनी सर्जना के बीज बिंदु के रूप में भी देख रहा होता है। कई बार कोई प्राकृतिक उपादान के ऊपर भी कविता लिखता है, किंतु उसकी यह रचना भी केवल इंद्रिय संवेदन तक ही सीमित नहीं रहती। किसी नदी का, झरनों का, या पेड़ों का अच्छा लगना मात्र इंद्रियसंवेदन का विषय नहीं है। कोई वस्तु हमें अच्छी लगती है तो उसके पीछे हमारा सौंदर्यबोध भी काम कर रहा होता है। कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि फिर कुछ चीजें तो सबको अच्छी लगती है, जैसे-प्राकृतिक दृश्य या सुंदर स्त्री। हम यहाँ सौंदर्य के साथ ही सौंदर्यबोध की भी बात कर रहे हैं। कलाकार सौंदर्य के साथ सौंदर्य के बोध को भी जोड़ता चलता है। प्राकृतिक दृश्य से या सुंदर स्त्री के सौंदर्य से सामान्य व्यक्ति रचनात्मकता की खोज नहीं कर पाते, इसीलिए उनका सुंदर लगना मात्र शारीरिक या इंद्रियसंवेदन तक ही सीमित नहीं रहता है। कलाकार का आस्वाद इसीलिए विशिष्ट होता है, क्योंकि वह अपने आस्वाद की प्रक्रिया में अपने 'स्व' का विसर्जन करता है...समर्पण करता है। यह प्रश्न बहुधा उठाया जाता रहा है कि क्या वाकई एक कलाकार अपने 'स्व' का समर्पण करता है? एक कलाकार अपनी कला को तभी ढाल पाता है, जब वह अपने व्यक्तित्व के चेतस रूप का साक्षात्कार कर पाता है। बिना इस साक्षात्कार के कलाकार, कला की साधना नहीं कर पाता। फिर ऐसे में क्या यह विरोधाभासी तथ्य है कि कलाकार अपने 'चेतस व्यक्तित्व का साक्षात्कार' व अपने 'स्व का समर्पण' एक साथ करता है? यहाँ 'स्व' का अर्थ कलाकार के अपने अहम, पूर्वाग्रह या कला के प्रति उसके व्यक्तित्व की प्रतिबद्धता से समझा जाना चाहिए...समझा जाना उचित होगा। कलाकार विचित्र प्रकार के द्वंद्व से युक्त होता है। एक और वह अपने व्यक्तित्व को कला के लिए संरक्षित करता है तो दूसरी ओर वह कला में इस व्यक्तित्व को विसर्जित कर देता है। इस प्रकार एक साथ ही कला में कलाकार का व्यक्तित्व प्रक्षेपित भी हो जाता है और कला सार्वभौमिक भी हो जाती है। कलाकार के आस्वाद प्रक्रिया के लिए यह महत्वपूर्ण बन जाता है कि कलाकार किसी तथ्य को, वस्तु या विचार को उसकी आंतरिकता में ग्रहण करता है। कलाकार के आस्वाद की प्रक्रिया के कई चरण हो सकते हैं। सर्वप्रथम तो कलाकार के सामने कोई तथ्य, विचार आता है; किंतु यह उसके सामने बिंब रूप में ढलकर आता है। किसी सुंदर स्त्री को देखना और फिर उसे बिंब रूप में रूपांतरित कर देना, यह एक कलाकार के आस्वाद प्रक्रिया के लिए आवश्यक है। कला सामान्य तथ्य को विशिष्ट बनाती है, किंतु उसकी यह विशिष्टता लोकोन्मुखी होती है, इसीलिए सार्वभौमिक होती है।

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कलाकार के आस्वाद के दूसरे चरण में बिम्ब दृश्य रूप में ढल जाता है। इस चरण में बिंब दृश्य में ढलकर कला को मूर्त रूप देता है। पहले चरण में कलाकार अपने बिंब को अमूर्त रखता है, किंतु दूसरे चरण में कलाकार अपने बिंब को अपनी अनुभूति का रूप प्रदान करता है। कलाकार का आस्वादन उसकी अनुभूति में ढलकर सौंदर्यबोध तक चला जाता है। इस चरण के बाद कलाकार अपने आस्वाद को रचनात्मक रूप दे देता है। इस प्रकार कलाकार का आस्वाद मूल रूप से रचनात्मक होता है।

(2)

कलाकार की अभिव्यक्ति उसके आस्वाद-प्रक्रिया का अगला रचनात्मक आरोहण है। जिस प्रकार एक रचनाकार की रचना-प्रक्रिया उसकी कृति का पूर्व पक्ष है, उसी प्रकार कलाकार की कृति उसके आस्वाद प्रक्रिया की अभिव्यक्ति। प्रश्न है कि क्या आस्वाद प्रक्रिया किसी दृश्य या बन रही कृति के सापेक्ष ही होती है? कलाकार का आस्वाद बहुधा तात्कालिकता का अतिक्रमण कर लंबी कालावधि में विस्तृत हो जाता है। कई बार एक आस्वाद (अनुभव की रचनात्मक परिणति) इतना विस्तृत हो जाता है कि वह कई कृतियों में फैल जाता है। रचनाकार के लिए हम जिसे 'महाअनुभव' कहेंगे, अभिव्यक्ति के लिए जिसे 'महावाक्य' कहा गया है, उसी प्रकार कलाकार, 'कला की दीर्घता' में प्रवेश कर जाता है। कला तब इतने विस्तृत रूप में आती है कि वह एक रचना में सिमट नहीं पाती...। लेकिन ऐसा हमेशा नहीं होता। कई बार आस्वाद की अभिव्यक्ति छोटे-छोटे तात्कालिक संदर्भों में होती है...तब कलाकृति छोटे-छोटे अनुभवों का विस्तार होती है। जो रचना, जो कलाकृति जितने बड़े अनुभव-विस्तार पर टिकी होती है, वह उतनी ही बड़ी रचना होती है। कलाकृति की अभिव्यक्ति इसीलिए कलाकार /रचनाकार के अनुभव-जगत का रचनात्मक प्रक्षेप होती है।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

'ट्रोजन की औरतें' एवं 'स्त्री विलाप पर्व'

11.07.2019

[परिपार्श्व-एथेंस और ट्रॉय का युद्ध पश्चिमी सभ्यता का आदि विमर्श बिंदु है। अधिकांश पश्चिमी साहित्य, कला, दर्शन, राजनीति सिद्धांत इस युद्ध की छाया तले विकसित हुए हैं। आप चाहें तो होमर के 'इलियड', 'ओडिसी' की बात करें या अरस्तु के राजनीतिक-दर्शन या काव्य-सिद्धांत की। यह बड़ा विचित्र है कि किसी सभ्यता का आदि-विमर्श युद्ध बन रहा हो, किन्तु यह केवल पश्चिमी सभ्यता का सच नहीं है; अपितु भारतीय परंपरा का भी सच है। वाल्मीकि कृत 'रामायण' केवल राम-रावण युद्ध मात्र न था, अपितु दो संस्कृतियों का आंतरिक संघर्ष भी था। किन्तु यह संघर्ष सांस्कृतिक संघर्ष था, कहीं बहुत भीतरी संघर्ष, या मनुष्य की आंतरिक वृत्तियों का संघर्ष...। प्रश्न है कि क्या यह सांस्कृतिक संघर्ष था या साभ्यतिक संघर्ष? क्या 'महाभारत' का युद्ध सभ्यता का संघर्ष था? हालांकि 'महाभारत' का युद्ध पारिवारिक युद्ध था-एक ही कुल-गोत्र के बीच का युद्ध। फिर वह सांस्कृतिक संघर्ष क्यों न बना? बात थोड़ी और स्पष्ट करने की आवश्यकता है। 'रामायण' पर जिस आर्य-अनार्य संघर्ष की छाया देखी गयी है, वैसा संघर्ष किसी रूप में 'महाभारत' के सन्दर्भ में नहीं देखा गया। 'रामायण' के पात्रों का जिस प्रकार प्रतीकीकरण किया गया...जिस प्रकार 'रामायण' पर आधारित रामलीलाओं का मंचन हुआ...जिस प्रकार आदर्श गढ़ने की सम्भावना 'रामायण' में छिपी हुई थी...या कहें कि आंतरिक वृत्तियों को उद्घाटित करने की सामर्थ्य 'रामायण' में जिस प्रकार थी, वैसा 'महाभारत' में नहीं। देव-असुर के द्वैत के लिए जिस प्रकार का स्पेस 'रामायण' में था, उस प्रकार का स्पेस 'महाभारत' में नहीं था। 'महाभारत' आंतरिक संघर्ष नहीं है, बावजूद पारिवारिक संघर्ष है और 'रामायण' आंतरिक संघर्ष है, बावजूद सांस्कृतिक संघर्ष है। यही कारण है कि 'रामायण' सांस्कृतिक संघर्ष का महाकाव्य है और 'महाभारत' साभ्यतिक संघर्ष का महाकाव्य। हालांकि 'महाभारत' के मूल में, केंद्र में धर्म रहा है, सत्य रहा है; किन्तु अपनी व्यंजना में वह सभ्य-असभ्य या कहें कि 'सभ्यता का

CC-OAgamnigam Digital Preservation
Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

विमर्श' रहा है। युधिष्ठिर और दुर्योधन सभ्य और असभ्य के रूपान्तर हैं, जिन्हें क्रमशः सत्य [कृष्ण] और असत्य [शकुनि] का संबल है। हालांकि 'महाभारत' की संरचना जटिल है। वह विभिन्न प्रकार के अंतर्विरोधों को समेटे हुए है। धर्म की ढेरों कथाएँ, विभिन्न प्रसंग, घटनाएँ, आख्यान, चरित्र....ये सब मिलकर 'महाभारत' को 'सम्पूर्ण मानस का प्रतिनिधि' बनाते हैं। दरअसल 'रामायणकार' की तरह 'महाभारतकार' के सामने ग्रन्थ को दो भिन्न संस्कृतियों के संघर्ष के रूप में चित्रित करने की साहित्यिक/सांस्कृतिक बाध्यता न थी। इसलिए भी उसे सम्पूर्ण भारतीय मानस के बिम्ब के रूप में चित्रित करने के लिए अतिरिक्त स्पेस मिला।]

'ट्रोजन की औरतें' नाटक युद्ध के निष्कर्ष [?] पर आधारित नाटक है। 'युद्ध से निष्कर्ष' और 'युद्ध के निष्कर्ष' की व्यंजना में फ़र्क है। 'युद्ध से निष्कर्ष' एक पक्ष की विजय और शान्ति स्थापना से जुड़ा हुआ है तो 'युद्ध के निष्कर्ष' भयावहता, संत्रास, पीड़ा, रुदन...में। 'युद्ध से निष्कर्ष' थोड़ा दार्शनिक है, सामाजिक है, राष्ट्रीय है..मानवतावादी है तो 'युद्ध के निष्कर्ष' थोड़ा पारिवारिक है, व्यक्तिगत है, आत्मिक है, मनोसंघर्ष के स्तर पर है। 'युद्ध से निष्कर्ष' के पश्चात 'युद्ध के निष्कर्ष' की विभीषिका प्रारंभ होती है। बड़े फलक के संघर्ष वस्तुतः आंतरिक संघर्षों को जन्म देते हैं। एक बड़ा युद्ध सांस्कृतिक विजय-पराजय का दंभ-अभिशाप तो देता ही है, साथ ही अपने पीछे विलाप करती मानव-आत्माओं के चित्र भी हमें पकड़ा देता है। 'ट्रोजन की औरतें' ग्रीक ट्रेजडी [युद्ध] को हम इसी रूप में देख सकते हैं। उसी प्रकार जैसे 'महाभारत' में युद्ध के पश्चात गांधारी तथा अन्य स्त्रियों के विलाप दृश्य। यह बड़ा आश्चर्य है कि 'वाल्मीकि' ने युद्ध की समाप्ति पर मंदोदरी-सुलोचना या अन्य स्त्रियों के 'विलाप दृश्य' उस प्रकार सघनित रूप में चित्रित नहीं किये। इसके पीछे कहीं यह वजह तो नहीं रही कि वहाँ सांस्कृतिक संघर्ष में विजय का प्राप्य इतना बड़ा था कि व्यक्तिगत संताप तक हमारी दृष्टि आसानी से नहीं पहुँचती ? सुलोचना जैसी स्त्रियों के करुण दृश्य यदा-कदा संकेतात्मक रूप में आये हैं, किन्तु वे कथा की संरचना में अपना विशेष अर्थ नहीं रख पाते।

'द ट्रोजन विमेन'/ 'ट्रोजन की औरतें' नाटक यूरिपिडीज द्वारा 416 ईसापूर्व में लिखा गया था। यह नाटक यूनान की विजय तथा ट्रॉय की पराजय के कथ्य पर केन्द्रित है। किन्तु इसका मूल कथ्य विजय के पश्चात की घटनाओं से जुड़ा हुआ है। 'ट्रोजन की औरतें' युद्ध के पश्चात के उन्माद, पाशविकता, व्यभिचार, हिंसा पर आधारित है। यह नाटक मुख्य रूप से हैक्युबा के विलाप और उस बहाने महान यूनान की सभ्यता पर प्रश्न चिह्न लगाता है। 'महाभारत' के 'स्त्री पर्व' में विभिन्न प्रकार के 'विलाप दृश्य' रखे गए हैं। जैसे धृतराष्ट्र का विलाप, कौरववंश की युवतियों के सामूहिक विलाप। इसके अतिरिक्त विभिन्न अध्याय केवल विलाप की

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

विभिन्न भंगिमाओं के निमित्त रचे गए हैं। दुर्योधन तथा उसके पास रोती हुई पुत्रवधू को देखकर गांधारी का श्रीकृष्ण के सम्मुख विलाप, अपने अन्य पुत्रों तथा दुशासन को देखकर गांधारी के श्रीकृष्ण के सम्मुख विलाप [अध्याय 18]। विकर्ण, दुर्मुख, चित्रसेन, विविंशति तथा दु:सह को देखकर गांधारी का श्रीकृष्ण के सम्मुख विलाप [अध्याय 19]। गांधारी तथा श्रीकृष्ण के प्रति उत्तरा और विराट कुल की स्त्रियों के शोक एवं विलाप का वर्णन [अध्याय 20]। गांधारी के द्वारा कर्ण को देखकर उसके शौर्य तथा उसकी स्तुति के विलाप का श्रीकृष्ण के सम्मुख वर्णन [अध्याय 21]। अपनी-अपनी स्त्रियों से घिरे हुए अवन्ती नरेश और जयद्रथ को देखकर तथा दु:शला पर दृष्टिपात करके गांधारी का श्रीकृष्ण के सम्मुख विलाप [अध्याय 22]। शल्य, भगदत्त, भीष्म और द्रोण को देखकर श्रीकृष्ण के सम्मुख गांधारी का विलाप [अध्याय 23]। भूरिश्रवा के पास उसकी पत्नियों का विलाप, उन सबको तथा शकुनि को देखकर गांधारी का श्रीकृष्ण के सम्मुख शोकोदगार [अध्याय 24]। तथा अन्यान्य वीरों को मरा देखकर गांधारी का शोकातुर होकर विलाप करना और क्रोधपूर्वक श्रीकृष्ण को यदुवंशविनाश विषयक श्राप देना [अध्याय 25]। यह बड़ा विचित्र संयोग यह कि हैक्युबा और गांधारी के वर्णन/ विलाप में अद्‌भुत रूप से साम्य है। 'ट्रोजन की औरतें' नाटक के केंद्र में हैक्युबा है, ठीक उसी प्रकार जैसे 'स्त्री पर्व' तथा 'स्त्री विलाप पर्व' के केंद्र में गांधारी। जिस प्रकार गांधारी समस्त कुरुवंश के लिए विलाप कर रही है, उसी प्रकार हैक्युबा ट्रोजन के लिए।

क्या 'महाभारत' के 'स्त्री पर्व' एवं 'स्त्री विलाप पर्व' से ग्रीक त्रासदी 'ट्रोजन की औरतें' के बीच किसी प्रकार की तुलना की जा सकती है? 'ट्रोजन को औरतें' पश्चिमी सभ्यता/आख्यान का एक हिस्सा भर है। जबकि 'महाभारत' एक रचयिता की स्वतंत्र अनुकृति। फिर 'महाभारत' की अपनी जटिल-विस्तृत संरचना है, जहाँ 'कथ्य' को व्यापक रूप दिया गया है; वहीं 'ट्रोजन की औरतें' एक या कुछ-एक दृश्यों में रचित नाटक है। 'महाभारत' में 'स्त्री विलाप पर्व' के अतिरिक्त भी विलाप के ढेरों दृश्य हैं, जिसमें केवल स्त्रियाँ ही विलाप नहीं करतीं, अपितु पुरुष भी विलाप करते हैं। 'ऐषीक पर्व' के दसवें अध्याय में पुत्रों तथा पांचालों के वध पर युधिष्ठिर का विलाप, धृतराष्ट्र के अग्नि प्रवेश पर युधिष्ठिर का विलाप, अर्जुन की मृत्यु पर चित्रागंदा का विलाप, वभ्रुवाहन का शोकोदगार, 'शल्य पर्व' के 63 वें अध्याय में दुर्योधन का विलाप, 'सौप्तिक पर्व' के आठवें अध्याय में दुर्योधन की दशा देखकर कृपाचार्य और अश्वत्थामा का विलाप...। 'स्त्री पर्व' में पुत्र की मृत्यु पर द्रौपदी का विलाप, धृतराष्ट्र का विलाप आदि। इसके अतिरिक्त भी महाभारत युद्ध में विभिन्न प्रकार के विलाप दृश्य चित्रित किये गए हैं। जैसे एकलव्य की मृत्यु पर सुभद्रा, अर्जुन तथा उत्तरा का विलाप, घटोत्कच की मृत्यु पर भीम का

CC-OAgamnigam Digital Preservation
Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

विलाप...आदि। कहने का अर्थ यह कि इसी प्रकार महाभारत में अन्य दृश्य भी चित्रित किये गए हैं। महाभारत में विलाप के विभिन्न दृश्य उसे व्यापक कारुणिक आधार देते हैं, किन्तु बावजूद उसके विलाप दृश्य महाकाव्य की धार्मिक-सैद्धांतिक ऊँचाइयों के नीचे दब जाते हैं। धृतराष्ट्र के विलाप पर विदुर के धर्म-मोक्ष एवं सैद्धांतिक स्थापनाओं का स्मरण करें। इस प्रकार के धर्मयुक्त कथन 'ट्रोजन की औरतें' में नहीं है। 'ट्रोजन की औरतें' इस प्रकार ज्यादा कारुणिक एवं मार्मिक बन गया है, क्योंकि इसमें विशुद्ध मानवीय पीड़ा-करुणा की सृष्टि की गयी है। यहाँ 'पुरुषों के विलाप' दृश्य नहीं हैं। अत: पुरुष और स्त्री के मध्य के द्वंद्व की सृष्टि के लिए नाटककार को पर्याप्त स्पेस मिला है। 'ट्रोजन की औरतें' इसीलिए एक 'विमर्शात्मक कृति' बन उठी है, क्योंकि यह एक स्त्री की पीड़ा के आर्त्त स्वर में पुरुष की सामंती मानसिकता, हिंस व्यवहार, व्यभिचार...को व्यंग्यात्मक लहजे में हमारे सामने रखती है। नाटक के मध्य इस प्रकार के संवाद रखे गए हैं, जो स्त्री पीड़ा को और गहन करते हैं। नाटक में आये कोरस का कथन देखिये-''मैं दुखियारी किसकी दासी बनूँगी। मुझे कौन यहाँ से ले जाएगा? क्या मुझे ट्रॉय की सरज़मीन से दूर, किसी यूनानी के घर जाना होगा?'' हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि कथन में स्त्री पराधीनता की पीड़ा भी है और राष्ट्र के ध्वंश का दु:ख भी। हैक्युबा प्रति-प्रश्न करते हुए कहती है-''क्या ट्रॉय की मल्लिका को किसी ग़ैर के बच्चों की आया बनना पडेगा?।'' हैक्युबा के टेलथीबीयस से यह पूछने पर कि-''मेरी दुखियारी बेटी [एन्ड्रोमके] को लैकेडेमोनियन औरत की गुलामी करनी होगी।'' टेलथिबीयस उत्तर देता है-''नहीं। वो बीबी की तरह, बादशाह के बिस्तर की जीनत बनेगी...हर औरत को किसी एक मर्द की गुलामी करनी होगी।'' 'ट्रोजन की औरतें' इस प्रकार 'रुदन के बीच विमर्श' पैदा करता है। संभवत: स्त्री विमर्श का आदि आख्यान। 'स्त्री विलाप पर्व' में विलाप है, करुणा है...पूर्व की सुखद स्मृति के बीच वर्तमान की भयावहता है...अतीत की स्मृति और वर्तमान के विनाश से रचनाकार ने करुणा को घनीभूत करने का प्रयास किया है, जो अंतत: एक विसंगति को जन्म देता है; जिसमें युधिष्ठिर का राज्य प्राप्ति छोटा लगने लगता है। इस नाटक में पीड़ा, घुटन, छटपटाहट, विडंबना की सृष्टि की गयी है। 'महाभारत' के विलाप दृश्य युद्ध की निरर्थकता को घनीभूत करते हैं। [जिस संकेत पर धर्मवीर भारती ने 'अँधा युग' लिखा...], किन्तु 'ट्रोजन की औरतें' में युद्ध की विभीषिका....युद्ध विजय के बाद का दर्द तो है ही, साथ ही युद्ध विजय के उन्माद के बीच लूट, हिंसा, बलात्कार, जबरदस्ती, दुश्चिंता...इत्यादि भी है। 'स्त्री पर्व' में घटनाएँ पूर्व में घट चुकी हैं...अब उनका प्रभाव है, उससे उत्पन्न करुणा है। यहाँ युद्ध की समाप्ति पर भी हिंस घटनाओं का घटना ज़ारी है। वहाँ अतीत और वर्तमान है, यहाँ वर्तमान और

CC-OAgamnigam Digital Preservation
Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भविष्य। वहाँ अतीत की भयावहता का संक्रमण वर्तमान में हो रहा है तो यहाँ अतीत की भयावहता वर्तमान से होते हुई भविष्य तक जा रही है। वहाँ युद्ध के बाद का पश्चाताप है, यहाँ युद्ध के बाद का उन्माद है; जो परिस्थिति को भय, जुगुप्सा और हैवानियत से भर दे रहा है। 'महाभारत' की मूल संरचना में सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म का द्वंद्व है, किन्तु 'ट्रोजन की औरतें' नाटक में सैन्य विभीषिका-आतंकवाद है...और है, अंध राष्ट्रवाद। नाटक में सभ्यता-उपनिवेश का संघर्ष भी है। यह नाटक क्रूरता, पाशविकता, अश्लीलता के मध्य युद्ध की निस्सारता भी रेखांकित करता है, किन्तु उसका मुख्य फ़ोकस/ बल युद्ध की विभीषिका से संत्रस्त स्त्रियों की पीड़ा को उकेरना है। हैक्युबा, एन्द्रोमके, कसान्द्रा और ढेरों स्त्रियों की पीड़ा को समवेत रूप में नाटककार यूरिपिडीज ने गहनतापूर्वक उकेरा है। यूनान के सैनिकों ने जिस तरह ट्रोजन को तबाह किया, स्त्रियों और बच्चों को मारा, बंधक बनाया, शोषण किया, बलात्कार किया...यही घटनाक्रम इस नाटक के केंद्र में है। ज़ाहिर है कि सत्ता की विध्वंशकारी नीतियों के प्रतिकार में ही यह महान नाटक रचा गया है। एथेंस और ट्रॉय के महान [?] युद्ध पर प्रश्न चिह्न लगाता यह नाटक हमारे सामने...हमारी मानवता पर एक प्रश्न चिह्न अंकित करता है। ट्रोजन शहर को ध्वंश करना...या उसे आग के हवाले कर देना एक सभ्यता को नष्ट करना भी है। युद्ध तो मनुष्य के उन्माद का प्रतिरूप है ही, किन्तु शहर को ध्वस्त करना सभ्यता और मानव जाति के सृजनात्मक तत्वों को ध्वस्त करना है। स्त्री पीड़ा को केंद्र में रख नाटककार ने सम्पूर्ण मानव सभ्यता को कटघरे में खड़ा किया है। ऐसी स्थिति में महान यूनान की शौर्य/ विजय गाथाएँ घूमिल पड़ने लगती हैं...झूठी जान पड़ती हैं।

'ट्रोजन की औरतें' नाटक में सीमित दृश्य हैं। इन सीमित दृश्यों में नाटककार ने संवेदना को घनीभूत किया है। अल्प दृश्य और सीमित पात्र रखने के पीछे नाटककार की मंशा संवेदना का घनीभूतिकरण करना ही हो सकता है। हैक्युबा-एन्द्रोमके संवाद हों या हैक्युबा-हेलेन संवाद सभी परिस्थिति की गहनता उकेरने में सफ़ल रहे हैं। हेलेन का चरित्र नाटक में एक नए प्रकार का विमर्श खड़ा करता है, किन्तु नाटककार ने उसे सीमित रूप में रखा है। हेलेन की सुन्दरता और उस सुन्दरता के प्रभाव की भयावहता इस युद्ध-विनाश के मूल में है...। यही कारण है कि इस नाटक की प्रतिनिधि पात्र हैक्युबा है, न कि हेलेन। हालांकि हेलेन के वचन संकेत रूप में पुरुषों के व्यभिचारी रूप का पर्दाफाश कर देते हैं। हेलेन और हैक्युबा परस्पर विरोधी ध्रुव पर खड़ी हैं, किन्तु स्त्री पराधीनता के बिंदु पर एक हैं और यही नाटककार की सफलता है।

'ट्रोजन की औरतें' स्त्रियों के चीत्कार के बीच सभ्यता का विमर्श है। हैक्युबा इस चीत्कार का प्रतिनिधि है, प्रतीक है। उसके सामने बर्बर साम्राज्यवाद और राजतन्त्र बौने लगने लगते हैं। यह बौना लगने लगना...नाटककार की सफलता हो सकती है।

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हैक्युबा के प्रश्नों का उत्तर बर्बर साम्राज्यवाद के पास नहीं है...और क्या हमारे पास भी है?

'महाभारत' सम्पूर्ण भारतीय चिंतन परंपरा का निचोड़ है, ऐसी स्थिति में उसका 'स्त्री विलाप पर्व' मार्मिक, कारुणिक होते हुए भी उसकी मूल व्यंजना से भिन्न [सत्य/ धर्म की विजय...] नहीं हो पाता। 'स्त्रियों के विलाप' यहाँ युद्ध के विनाश को तो सूचित करते हैं, किन्तु वे महान लक्ष्य [शान्ति स्थापना] की पूर्ति में सहायक भी होते हैं। बावजूद महाकवि व्यास ने 'स्त्री विलाप पर्व' की रचना कर पुरुषों के मिथ्या दंभ को प्रश्नांकित कर दिया है। महाकवि अपनी रचना में ऐसे संकेत स्थल छोड़ जाता है, जो व्यापक विमर्श की आधार भूमि बनते हैं। क्लासिक कृतियाँ यही कार्य किया करती हैं।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कला और भंगिमा

20.10.2019

आज एक प्रिय मित्र से कला और भंगिमा के प्रश्न पर बातचीत हुई। मित्र कला के परिवर्तनकारी मूल्यबोध का समर्थक है। उसने कला को गत्यात्मक सौंदर्यबोध कहा। वाकई कला अपने आप में शाश्वत होकर भी अपने मूल्य के धरातल पर परिवर्तनकारी ही होती है। यही कारण है कि एक समय प्रचलित या अपने समय में प्रगतिशील समझे जाने वाला कलात्मक उपादान, अभिरुचि एक समय के पश्चात हमें पिछड़ी जान पड़ती है। आज छायावादी काव्य हमें, कुछ लोगों को भावुक, बचकाना लग सकता है; किंतु एक समय वही आधुनिक जीवन मूल्यों का समर्थक था...पूँजीवादी व्यक्ति चेतना का वाहक था और शायद इसीलिए गतिशील भी था। इस प्रकार के परिवर्तन का कारण क्या बदली हुई जन अभिरुचि है? मनुष्यता की विकास यात्रा है? या साहित्य का आंतरिक द्वंद्व है...भाव का परिष्कार है यह विकास है? या किसी खास बिंदु को देखने के हमारे नजरिए में हुआ परिवर्तन है? राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में देश-प्रेम, स्वाधीनता संग्राम से युक्त साहित्य की अपनी ऐतिहासिक मांग या प्रासंगिकता हुआ करती थी। 'संसार का सबसे अनमोल रत्न' कहानी का या 'भारत-भारती' आज के समय में लिखे जाएँ तो वह उतनी अपील पैदा नहीं करेंगीं, जितना कि उस समय कर रही थीं। इसका अर्थ यह नहीं है कि राष्ट्रीय प्रेम से युक्त रचनाएँ अप्रासंगिक हो गई हैं या वे पाठ में नहीं रखी जाएंगी वे या भविष्य में नहीं रची जाएगीं? नहीं वह न तो अप्रासंगिक हुई है और न तो उनका महत्व कम हुआ है; बस उस विषय का ट्रीटमेंट बदल गया है। कहने का ढंग बदल गया है। दार्शनिक रूप से, ऐतिहासिक रूप से या व्यक्ति कार्य-कारण संबंधों की नियोजन के पश्चात भी साहित्य में भाव केन्द्रस्थ है। बुद्धिवाद के आग्रह के बावजूद साहित्य में भाव प्रबलता बनी हुई है। इसका कारण मात्र इतना नहीं है कि साहित्य का प्रधान आधार मानवीय संवेग है, बल्कि इसका एक प्रधान कारण यह भी है कि हर युग की रचना पर उनके कथन शैली पर तत्कालीन परिस्थिति, परिवेश, प्रभावी

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भूमिका अदा करते हैं। नई परिस्थितियाँ कहन की भंगिमा को बदल देती हैं। छायावाद से पूर्व में रोमांटिक कविता दूसरे रूप में थी। कालिदास अपने समय में रोमांटिक कवि था, घनानंद भी; किंतु इनकी कविता स्वच्छंदतावाद, छायावाद से भिन्न है। कला का संबंध वस्तुत: बदली हुई अभिरुचि के सापेक्ष मानवीय अनुभूतियों की नवीन भंगिमा की तलाश करना होता है। स्त्री-पुरुष संबंध का बुनियादी आधार विपरीत लिंग के प्रति प्राकृतिक आकर्षण और मानवीय सभ्यता-क्रम में परस्पर साहचर्य (गृहस्थ-संतानोत्पत्ति दांपत्य-दायित्व) की भावना रही है। इस दृष्टि से कालिदास का रति वर्णन या प्रेम वर्णन आधुनिक काल के रति वर्णन या प्रेम वर्णन में क्या अंतर रहा है? कालिदास का प्रेम चित्रण जयशंकर प्रसाद की स्त्री वर्णन से क्यों-कर भिन्न हो जाता है? आप कहेंगे कि युग परिस्थितियों का बदलाव इसके पीछे मुख्य रूप से उत्तरदायी है। यह स्थूल, मोटा विश्लेषण है। इसके पीछे मुख्य वजह मानवीय अभिरुचि रही हैं...मानवीय संवेदनाओं का परिष्करण। आज शकुंतला-श्रद्धा के मनोवैज्ञानिक पक्षों का विश्लेषण करें तो आपको यह अंतर बहुत साफ दिख जाएगा। मानवीय सभ्यता का विकास-क्रम इसके पार्श्व में होता है और मानवी अभिरुचियों का परिष्करण और उनका नवीन संयोजन इसके मुख्यांश में...। यही कारण है कि कलाएँ हमेशा हमारे सामने नयी प्रतीत होती हैं, क्योंकि वह कभी अपनी पुनरावृति नहीं करतीं या अपने पुराने रूप का रचाव पैदा नहीं करतीं।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

विषय, रूप और कलाकार

05.01.2020

आज एक प्रिय मित्र ने विषय और रचना-रूप का प्रश्न उठाया। मित्र ने रचना-रूप के संदर्भ में विषय की व्यापकता को अनिवार्य बताया। एक कलाकार हमेशा चाहता है कि वह एक श्रेष्ठ कृति रचे, किंतु उसका चाहना क्या हमेशा आत्मनिष्ठ होता है? और यदि केवल उसके चाहने से ही वह श्रेष्ठ कृति का निर्माण कर सकता है तो फिर घटिया कृति क्यों रचित होती? एक प्रतिभाशाली कलाकार जो रचना कर सकने में सक्षम है (तो इसे प्रतिभाशाली ही कहा जाए) किसी रचना/ कलाकृति के बनने के अवयवों, सांगठनिक तंतुओं को बखूबी समझता है...वह शिल्पकार है...फिर भी किसी रचना में उसका शिल्प विधान नहीं सध पाता। क्यों? मुक्तिबोध सलाह देते हैं कि बहुत बड़े कथ्य का चयन करने से अच्छा है कि वही कथ्य चुना जाए जो चित्रण में सध जाए। यह अनुभूति की प्रामाणिकता का प्रश्न नहीं है, अपितु कथ्य और अभिव्यक्ति के बीच के तनाव, द्वंद्व का प्रश्न है। कई बार लेखक बड़े विषय को उठाना चाहता है, किंतु उसका यह चाहना बहुत सायास, गणितीय होता है। वह महान रचना करना चाहता है, किंतु इस प्रयास में वह प्राय: असफल होता है। वह एक मास्टरपीस कलाकृति रचना चाहता है, किंतु कोई भी मास्टरपीस कलाकृति लेखक की व्यक्तिगत आकांक्षा का परिणाम नहीं होती। मास्टरपीस कृति या बड़ी रचना सामाजिक आकांक्षा का परिणाम होती हैं। यानी बड़ी रचना के प्लॉट ही कथ्य का निर्माण करते हैं। सरल भाषा में कहें तो यह कि ऐसे प्लॉट/कथ्य ही लेखक को चुनते हैं। प्लॉट और लेखक की आकांक्षा (सामाजिक) का तनाव जिस रूप में बड़ा होगा, रचना उसी अनुपात में बड़ी होगी; किंतु होता यह है कि कथ्य और रचनाकार का द्वंद्व उभर नहीं पाता...तनाव निभ नहीं पाता। तब प्लॉट लेखक का मनोगत होता चला जाता है और सामाजिक आकांक्षा पार्श्व में जाने लगती है। फलत: रचना का विधान संकुचित होता जाता है और बड़ी संभावनापूर्ण कलाकृतियाँ भी साधारण रचना भर रह जाती है। इसका कारण क्या यह समझा जाए कि लेखक ने प्लॉट बड़े

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लिए और उसके अनुपात में उसका रूप-वितान छोटा रचा...रखा या छोटे रूप-वितान को बड़े प्लॉट का रूप देना चाहा ? कुछ व्यावहारिक ढंग से समझने का प्रयास करें। टॉलस्टॉय ने 'वार एंड पीस' में बड़ा प्लॉट लिया और उसी अनुपात में अपने कथ्य का विस्तार किया। यही कारण है कि वह रचना बड़ी महान साबित हुई। वही उनकी दूसरी कलाकृति 'अन्ना करेनिना' का प्लॉट छोटा है और इसी अनुपात में लेखक ने कथ्य को विस्तार दिया है। यदि इस उपन्यास में लेखक अपनी रचना को बड़ा बनाने के सायास प्रयास में कथ्य का अति-विस्तार करते तो रचना निश्चित ही कमजोर सिद्ध होती। अलका सरावगी के उपन्यास जानकीदास तेजपाल मेंशन में लेखिका ने ऐसा ही असफल प्रयास किया है। उसने छोटे प्लॉट के विस्तार देने के प्रयास में कथ्य की सघनता को कमजोर कर दिया है। कहने का अर्थ यह है कि रचनाकार उसी प्लॉट को उठाए जो उसके कथ्य में समा सके, अट सके। एक महाकाव्य की व्यापक संरचना में स्पेस था कि वह विभिन्न प्रकार के कथानक को एक प्लॉट में समो सकता था, किंतु आज की रचनागत विधा में कथ्य और प्लॉट की एकतानता आवश्यक प्रतीत होती है।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कला और व्यक्तित्व

11.02.2020

(1)

आज एक प्रिय मित्र से कला और व्यक्तित्व के प्रश्न पर बातचीत हुई। मित्र ने कला को 'अंतर्मुखी व्यक्तित्व की आख्या' कहा। उसके अनुसार 'कला मूल रूप से आंतरिक व्यक्तित्व की गति' है....एक प्रकार से 'आंतरिक प्रकाश का लालित्य।' मित्र ने कला और व्यक्तित्व को जिस प्रकार वर्गीकृत किया, उससे इस प्रश्न पर विचार करने की इच्छा बलवती हो उठी। मुझे लगा कला के साथ कलाकार के व्यक्तित्व का प्रश्न भी महत्वपूर्ण है। प्रश्न है कि क्या कलाकार मूल रूप से अंतर्मुखी होता है? क्या कला अंतर्मुखी मन की उपज है? साहित्य में जिस प्रकार हम अंतर्मुखी व्यक्तित्व-बहिर्मुखी व्यक्तित्व का वर्गीकरण करते हैं, क्या वैसा ही कलाकार के संदर्भ में भी किया जा सकता है? कला मूल रूप से अंत:करण में डूबकर उतरती है...निर्मित होती है। कला के मुकाबले साहित्य में अंतर्मुखता और बहिर्मुखता का द्वंद्व प्रबल होता है। बाहर व भीतर की आवाजाही कला के मुकाबले साहित्य में कुछ ज्यादा होती है। कला में आवाजाही तो होती है, किंतु उसकी गति धीमी होती है। एक कलाकार अपनी अनुभूतियों-परिकल्पनाओं के साथ लंबे समय तक जीना चाहता है। ऐसा नहीं है कि वह स्थिर मनोवृति का व्यक्तित्व होता है। बस होता यह है कि अपनी प्राप्त अनुभूतियों-वैचारिकी के साथ उसका प्रवास दीर्घकालिक होता है। एक साहित्यकार लंबे समय तक साहित्यिक गति से अछूता नहीं रह सकता। एक साहित्यकार की यात्रा जिन प्रदेशों...दुर्गम स्थलों से होकर गुजरती है, उसमें समाज की प्रत्यक्ष उपस्थिति हमेशा होती है। एक कलाकार और साहित्यकार दोनों के लिए एक बिम्ब, एक विचार, एक दृश्य उनके प्रस्थान में अपनी भूमिका निभाते हैं, किंतु कलाकार उस प्रस्थान से ही अपना निष्कर्ष स्थिर करता है; किंतु एक साहित्यकार ऐसा नहीं करता। एक साहित्यकार अपने एक बिम्ब को (भले ही वह विराट बिम्ब हो) अन्य बिंबों से जोड़ता हुआ चलता है। इस प्रकार वह बिंब से बिम्ब की एक श्रृंखला के बीच उन्हें दृश्य व घटना (क्रिया) तक ले चलता है।

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

साहित्य में इसीलिए अनेक बिम्ब, अनेक दृश्य, अनेक मनोभाव, अनेक घटनाएँ मिलकर, एक विचार को निर्मित करते हैं। कला में अनेक विचार, अनेक दृश्य, अनेक मनोभाव मिलकर एक बिम्ब, मनोभाव, भंगिमा की दृष्टि करते हैं। एक से अनेक की निर्मिति करना और अनेक से एक भंगिमा की सृष्टि करना कला और साहित्य की अपनी पद्धति के स्तर पर भिन्न करता है। जब वात्स्यायन अपने ग्रंथ 'कामसूत्र' में साहित्य को कला से इतर रखते हैं तो उनके मस्तिष्क में भी कुछ इसी प्रकार की परिकल्पना रही होगी। बावजूद साहित्य व कला सौंदर्यबोध के स्तर पर एक ही धरातल पर मिल जाते हैं। सौंदर्य बोध की कुक्षी से ही साहित्य और कला दोनों का जन्म हुआ है।

यदि कला का मूल कार्य हमारे भीतर नए प्रकार की सौंदर्यचेतना का विकास करना है तो कलाकार का कार्य इस सुंदर चेतना के विकास के लिए आवश्यक उपादान एवं पद्धतियों को हमारे सामने रखना है। यानी कलाकार कला की पद्धतियों-प्रक्रियाओं का प्रस्तोता व विस्तारक है। कलाकार की साधना कला की विकास पद्धति को विकसित करने में निहित है। कलाकार इसीलिए कला माध्यमों में प्रयोग करता है। एक श्रेष्ठ कलाकार की कला मात्र इसीलिए महान नहीं होती कि वह पूर्व की प्राप्त कला-पद्धतियों के माध्यम से सत्य का साक्षात्कार करता है, अपितु उसकी कला इसलिए महान होती है; क्योंकि वह अपनी साधना के उच्चतम बिंदु पर जाकर कला पद्धतियों का विस्तार कर सका है या नहीं! एक साहित्यकार के लिए रचना-पद्धति का विस्तार उसकी महानता/ श्रेष्ठता की शर्त नहीं है, किंतु एक कलाकार के लिए यह आवश्यक शर्त है। इस बात को देखे जाने की आवश्यकता है कि साहित्य के भीतर रचना-पद्धति (रूप) के जन्मने/ बनने/निर्मित होने में किसी एक साहित्यकार की भूमिका प्रायः कम ही होती है। इन रचना-पद्धतियों के लिए युग का दबाव अपनी मुख्य भूमिका निभाता है। वाल्मीकि द्वारा श्लोक, सरहपा द्वारा दोहा जैसे काव्यरूपों के रचना रूपों को अपवाद समझ कर छोड़ दें तो साहित्य की अन्य रचना विधाओं, पद्धतियों के प्रारम्भकर्त्ता को खोजना बहुत मुश्किल कार्य होगा; किंतु कला में कला-पद्धति के लिए एक कलाकार ही आवश्यक होता है। ऐसा क्यों? साहित्य में लेखक अपने रचना कर्म को जिस प्रकार सामूहिक आकांक्षाओं को समर्पित करता है, वैसा कलाकार नहीं करता। एक कलाकार सामूहिक आकांक्षा, संभावनाओं को पहले अपनी तूलिका/ कला की कसौटी पर करता है, फिर उसे सामाजिक बनाता है। एक कलाकार इसीलिए लेखक की वैयक्तिक रचना-पद्धति की निर्लिप्तता से अपने को प्रायः मुक्त रखता है। क्या कलाकार निर्लिप्त नहीं होता? साहित्य और कलाकार के संदर्भ में प्रायः कहा जाता है कि वह जितना अपनी कला में डूबता है, उतनी ही कला को उन्नत करता है। अज्ञेय ने साहित्यकार को

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पनडुब्बा जैसा कहा है...देखा है, जो अपनी कला के लिए बहुत गहरे उतरता है। अज्ञेय की एक प्रसिद्ध कविता 'असाध्य वीणा' में एक कलाकार के समर्पण, साधना और सृजन के प्रश्न को उठाया गया है। प्रश्न है कि अपनी कला में डूबना, उसके प्रति समर्पण करने के बीच कलाकार अपने को निर्लिप्त कैसे रखता है? क्या साहित्यकार की अपेक्षा कलाकार के पास 'ताटस्थिक सौंदर्यबोध' के लिए ज्यादाअवकाश है? एक लेखक की रचना में जिस प्रकार उसका व्यक्तित्व झांकता है, उसकी विचारधारा जैसे गति प्रदान करती है, क्या एक कलाकार की रचना/कृति में उसके व्यक्तित्व की प्रतिध्वनि नहीं? और यदि प्रतिध्वनि नहीं तो फिर लिप्तता कैसे? इस प्रश्न को गहरे समझे जाने की आवश्यकता है। कोई भी रचना हो या कृति वह अपने रचनाकार से सर्वथा स्वतंत्र नहीं; किंतु कला की अपनी शर्त कलाकार व्यक्तित्व की निर्लिप्तता की मांग करती है। कलाकार अपनी कलाकृति के रचना क्षणों में धीरे-धीरे अपने व्यक्तित्व को कला में अंतर्भुक्त करता चलता है और फिर वह अपनी रचना को उस से मुक्त भी करता चलता है। क्या हम इसे विरोधाभास समझें? एक और व्यक्तित्व का प्रवेश और दूसरी ओर उस से पलायन? हाँ कला में यही होता है। कला एक साथ दोनों कार्य किया करती है। कला आपने रचना के प्रारंभिक चरण में कलाकार के व्यक्तित्व से आप्लावित होती है तो अपने उत्तरार्ध में (रचना-क्षणों में) कलाकार के व्यक्तित्व को छोड़कर रचना/ कृति के व्यक्तित्व से प्रकाशित हो उठती है। यानी एक और कलाकार का व्यक्तित्व और दूसरी ओर कृति की गति/ व्यक्तित्व के द्वंद्व से रचना में एक तनाव उत्पन्न होता है। आप इस तनाव को कृति के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध का द्वंद्व समझें या कलाकार के व्यक्तित्व और उसकी कलाकृति के मध्य तनाव समझें या इसे कलाकार की डूब और निर्लिप्तता के रूप में देखें; यह आप पर निर्भर करेगा। अर्थ यह कि एक ही कलाकार अपनी एक रचना में डूब और निर्लिप्त दोनों प्रक्रियाओं से होकर गुजरता है। यह द्वंद्व, या तनाव उसके कलाकृति को एक ओर उसके व्यक्तित्व, विचारधारा को रचना/कृति में प्रक्षेपित करता है तो दूसरी ओर उस से मुक्त भी करता है। हालांकि यह समझना भूल होगी कि कोई कलाकार अपनी कलाकृति में एक खास जगह पर, एक खास जगह तक अपने व्यक्तित्व को कृति में प्रक्षेपित करेगा और उसके बाद वह उस से मुक्त रखेगा। नहीं, ऐसा नहीं होता। किसी कलाकृति में हो सकता है कि कलाकार अंत तक इस तनाव को (कथ्य-संवेदना के स्तर पर) महसूस करें या हो सकता है कि वह इस तनाव को अपनी कृति के प्रारंभिक अंश में ही समाहित कर दे...हाँ यह सब रचना की अपनी संरचना पर भी निर्भर करेगा। किस कृति में कलाकार के डूब और उसके निर्लिप्तकरण की प्रक्रिया के बिंदु के लिए कोई सिद्धांत नहीं दिया जा सकता। एक कलाकृति ही अपने सिद्धांत गढ़ती है। हाँ यह अवश्य होता है कि कलाकार अपनी रचना-क्षमता,

CC-OAgamnigam Digital Preservation
Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रचना-पद्धति व कलाकृति की संरचना के अनुपात से उसे किसी खास बिंदु पर समाविष्ट कर देता है।

(2)

कृति की रचना प्रक्रिया के संदर्भ में एक कलाकार का व्यक्तित्व और उससे उसकी रचना का संबंध बेहद संश्लिष्ट है। किंतु कलाकार के ऊपर रची गई रचनाओं में लेखक-कलाकार का जो चित्र प्राय: उभरता है, वह उतना आदर्श, भव्य और निर्दोष प्रतीत नहीं होता। आप स्मरण करें, राजेंद्र यादव की चर्चित कहानी 'हासिल' के लेखक-नायक नवल का चरित्र, जिसमें उसके भीतर के कुंठित मन को लेखक ने बहुत खूबसूरती के साथ उभारा है। एक लेखक की रचना जितनी आदर्शात्मक-नैतिक होती है, उतना ही एक रचनाकार का व्यक्तित्व जीवन भी हो; इस प्रश्न को राजेंद्र यादव प्रश्नांकित करते हैं। इसी के साथ ही यशपाल की प्रसिद्ध कहानी 'मक्रील' का संदर्भ लें। इस कहानी में लेखक की प्रसिद्धि, रचनात्मकता की ऊँचाई को भीतर के व्यक्तित्व यानी भीतर के व्यक्ति मन की रिक्तता, कुंठा, अतृप्ति जिस प्रकार छोटा बना देते हैं, उससे तो यही प्रतीत होता है कि रचनाकार का अंतरजगत अपनी रचना जगत जैसा आदर्शपूर्ण नहीं होता। मोहन राकेश इसी दौर में 'जीनियस' कहानी में लेखक के व्यक्तित्व को आभामंडित तो करते हैं, किंतु उनका लेखक रेडिएशन, प्रकाश, इनरसेल्फ की अमूर्त शब्दावली से आत्ममुग्ध ऊँचाई तक पहुँचता तो है, किंतु उनकी ऊँचाई ठोस नहीं है।

मोहन राकेश के ऊपर अस्तित्ववादी चिंतकों का प्रभाव कम नहीं था। वह जिस प्रकार अपनी कहानी में लेखक के व्यक्तित्व को अमूर्त रूप देते हैं, उससे वह उनके बनने से ज्यादा उसके 'प्रभाव' पर बल देते हैं। मोहन राकेश के ही प्रसिद्ध उपन्यास 'अंधेरे बंद कमरे' के नायक-नायिका कला जगत के पात्र हैं। उनका संघर्ष, उनका अकेलापन, अलगाव उनकी कला के प्रति निष्ठा यथार्थपूर्ण ढंग से राकेश ने चित्रित किया है, किंतु प्रश्न है कि क्या कला अपने कलाकार को नैतिक ऊँचाई देकर ऊपर उठाने का काम नहीं करती? मोहन राकेश की ही एक चर्चित कृति 'आषाढ़ का एक दिन' का संदर्भ लें। 'आषाढ़ का एक दिन' कालिदास के जीवन के अ-चर्चित दृश्यों, घटनाओं या कहें कि कालिदास के जीवन को कल्पनात्मक ढंग से देखने का सर्जनात्मक प्रयास है। इस नाटक में राकेश एक कलाकार के बनने, उसके रचना स्रोत और उसके व्यक्तित्व की फांक के प्रश्न को संयोजित करते हैं। संपूर्ण नाटक में कालिदास की रचनाएँ बड़ी दिखती है, किंतु कालिदास उनके सामने बौना दिखता है। कालिदास जैसे बड़े व्यक्तित्व पर एक काल्पनिक पात्र विलोम भारी पड़ जाता है। कालिदास को जिस प्रकार राकेश ने व्यक्तिवादी, स्वार्थी और ईर्ष्या-द्वेष से ग्रस्त

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

करके दिखाया है, उससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि कला व्यक्तित्व में औदात्य का प्रकाश नहीं भरती? क्या वाकई ऐसा है? क्या एक कलाकार अपनी कला के साथ ही बनता नहीं चलता? क्या कलाकार अपने व्यक्तित्व के सर्वोत्तम रूप को अपनी कला में रख देता है और उससे रिक्त हो जाता है? यानी वह अपने व्यक्तित्व का पूरक अपनी कलाकृति को बनाता है? क्या हम इस तर्क से सहमत हों? इस प्रश्न के उत्तर/ निष्कर्ष से पूर्व कुछ एक संदर्भ और देखें। यशपाल की चर्चित कहानी 'चित्र का शीर्षक' कहानी में चित्रकार एक सुंदर स्त्री की कल्पना करता है, किंतु सामने वही स्त्री आती है; तब उसे झटका लगता है। एक कलाकार के लिए सौंदर्य/ सुंदरता आवश्यक होती है, किंतु वह सामान्य व्यक्ति की भांति केवल बाह्य सौंदर्य का ही अनुशंसक मात्र तो नहीं होता। वह जीवन के आंतरिक सौंदर्य का खोजकर्ता भी होता है, किंतु यशपाल का चित्रकार नायक एक स्त्री के सुंदर रूप के साथ ही अपने मनोभाव बदलता चलता है। प्रश्न है कि क्या कला/ रचना अपनी रचना-प्रक्रिया के साथ ही अपने रचयिता का निर्माण नहीं करती चलती? एक कलाकार, चित्रकार, मूर्तिकार अपनी हर कृति के अनुभव से समृद्ध होता चलता है। उसमें नया जुड़ता चलता है, किंतु क्या यह जुड़ाव/ समृद्धता मात्र रचना-प्रक्रिया, रचना-निर्माण तक ही सीमित होती है? क्या कलाकार की रचना-समृद्धता उसके व्यक्तित्व तक नहीं जाती? या वह अपनी रचनात्मक समृद्धता के लिए अपने व्यक्तित्व को रिक्त करके भी अपनी रचना को समृद्ध करता है? इन्हीं प्रश्नों के बीच ओ हेनरी की प्रसिद्ध क्लासिक कहानी 'आखिरी पत्ता' को भी देखें। कहानी एक सिरफिरे चित्रकार पर केंद्रित है, जो एक लड़की के जीवन को बचाने के लिए अपने जीवन/ प्राणों की बलि चढ़ा देता है। यह एक कलाकार के व्यक्तित्व का उच्चतर सोपान है। यहाँ कला ने अपने कलाकार व्यक्तित्व को जिस प्रकार ऊँचाई दी है, वह कला को नैतिक आदर्श से ऊँचा उठा देती है। यहाँ कलाकार कलाकृति नहीं बना रहा, अपितु कलाकृति कलाकार को बना रही है। तब घनानंद की पंक्ति सहज ही स्मरण हो उठती है-मोहिं मेरे कबित्त बनावत।

अज्ञेय की 'असाध्यवीणा' कविता में भी प्रियंवद नामक कलाकार का संदर्भ उपस्थित हुआ है, किंतु यहाँ अज्ञेय ने सृजन और यथार्थ के प्रश्न में कलाकार के व्यक्तित्व के प्रश्नों को हाशिए पर रख दिया है। सृजन के लिए समर्पण का प्रश्न उठाना ही अज्ञेय का ध्येय रहा है। एक दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि असाध्य वीणा की रचना-प्रक्रिया के स्तर पर रचना विधा कविता है। कविता की रचना पद्धति में घटना की प्रक्रिया कई बार ओझल हो जाती। कविता मूल रूप से प्रभावात्मक विधा है। इस ढंग से, उसमें, उसके पात्र कई बार निष्कर्ष मुद्रा में चित्रित किए जाते हैं ना कि प्रक्रियात्मक रूप में। इस दृष्टि से भी अज्ञेय ने कलाकार के

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जीवन के व्यक्तिगत अंश को कविता में स्थान देना उचित न समझा हो। कविता अपने स्वभाव में विवरण, तथ्य से पलायन वृत्ति अपनाती है। वह कई बार विवरणों से अपने को मुक्त करती है। प्राचीन महाकाव्य में जिस प्रकार विवरण देना...दृश्य उपस्थित करना कविता के लिए अनिवार्य हुआ करता था, वैसा आज की कविता में नहीं हुआ करता। आज की कविता में विवरण का स्थान संकेत और प्रभाव ने ले लिया है। अब कविता में संवेदननाओं का संयोजन करना होता है, ना कि विवरण, दृश्य के माध्यम से समाज/ जगत के चित्र उपस्थित करना। इस ढंग से कविता में कवि/ कलाकार के चित्र भावात्मक रूप में ही चित्रित किए जा सकते थे।

कलाकार /रचनाकार पर लिखी गई ज्यादातर कृतियाँ कलाकार को आदर्श रूप में चित्रित नहीं करती। ओ हेनरी की प्रसिद्ध कहानी का चित्रकार कहानी के अंत में जिस प्रकार महानता को प्राप्त हुआ है, पूरी कहानी में ऐसा नहीं है। संपूर्ण कहानी में चित्रकार का व्यक्तित्व अराजक, खूंसट और अव्यवस्थित-सा दिखाया गया है। प्रश्न है कि ऐसा क्यों हुआ है कि कलाकार का अपना जीवन उसकी कलाकृति के अनुपात में महान चित्रित नहीं हो सका है? तुलसी पर रचित 'मानस का हंस' तथा सूर पर आधारित 'खंजन नयन' देखें या अन्य रचनाएँ...इससे तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि लेखक/ कलाकार का व्यक्तिगत जीवन उसकी रचना की तरह आदर्श पूर्ण नहीं होता। पश्चिमी परंपरा में...उनके चिंतन में तो यह माना जाता रहा है कि लेखक व्यक्तित्व के स्तर पर सामान्य व्यक्तित्व से भिन्न नहीं होता, किंतु भारतीय परंपरा तो यह मानती रही है कि लेखक/ कलाकार का जो व्यक्तित्व होगा, उसकी रचना /कृति भी वैसी ही होगी; किंतु हम देखते हैं कि लेखकों ने जब कलाकारों/लेखकों के जीवन को चित्रित किया तो वह उसे बहुत आदर्श रूप न दे सके। हालांकि कुछ रचनाओं में लेखकों ने कलाकार की रचना-प्रक्रिया व उसके आंतरिक संघर्ष को बहुत सुंदर ढंग से अभिव्यक्त किया है, जैसे जगदीश चंद्र माथुर के प्रसिद्ध नाटक कोणार्क.. ब्रेस्ट के 'लाइफ ऑफ गैलीलियो' या भीष्म साहनी के हानूश नामक पात्र का संदर्भ लिया जा सकता है।

कलाकार व्यक्तित्व और रचना के संदर्भ में एक और दिलचस्प तथ्य हमारे सामने आता है। वास्तविक कलाकार/ रचनाकारों पर लिखे गए संस्मरण/ जीवनी जैसी विधाओं में उनके व्यक्तित्व को जिस धनात्मक रूप में विवेचित किया गया है, उस रूप में लेखक/ कलाकार पर रचे गए कल्पनात्मक साहित्य में नहीं। इस विरोधाभास का क्या कारण हो सकता है? वास्तविक कलाकार/ लेखकों पर लिखे गए साहित्य में जिस प्रकार उनके संघर्ष...उनकी महानता के गीत रचे गए हैं, वैसा काल्पनिक पात्रों के संदर्भ में प्रायः नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि वास्तविक कलाकारों के 'आत्मीय रचनाकारों' द्वारा रचे गए संस्मरण-जीवनी में इसीलिए

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रचनाकारों/ कलाकारों के चित्र प्रकाशपूर्ण हो पाते हैं, क्योंकि उनमें से अधिकांश समकालीन रचनाकार/ साहित्यकारों द्वारा रचे जाते हैं (जैसे रामविलास शर्मा की निराला जीवनी)। इस ढंग से इस प्रकार की रचनाओं में एक कलाकार द्वारा दूसरे कलाकार या एक रचनाकार द्वारा दूसरे रचनाकारों को गरिमा प्रदान करना, उन्हें वैशिष्ट्य प्रदान करना उनका मुख्य उद्देश्य रहता है। इस संदर्भ में एक दूसरा प्रश्न हमारे सामने उठ खड़ा होता है कि काल्पनिक कलाकारों के बहुधा नकारात्मक या कमजोर चित्र कहीं इसलिए तो नहीं खड़ा किया जाता है कि इस लेखन प्रक्रिया द्वारा रचनाकार कलाकार को उसकी रचना से पृथक उसको सामान्य मनुष्य/ व्यक्तित्व के रूप में दिखाता है। कम-से-कम प्रवृति के स्तर पर; किंतु प्रसिद्ध कलाकारों/ रचनाकारों पर रची गई रचनाओं में लेखक, कलाकार को...रचनाकार को उसकी कृति की सापेक्षता में चित्रित करता है। उसका व्यक्तित्व, उसकी कृति कृतिकार व्यक्तित्व से संचालित होता है, जबकि प्रथम स्थिति में कलाकार का व्यक्तित्व उसकी कृति-व्यक्तित्व को प्रभावित/ संचालित करता है अर्थात एक व्यक्तित्व के सापेक्ष कृति-व्यक्तित्व है तो दूसरा कृति-व्यक्तित्व के सापेक्ष व्यक्तित्व...। काल्पनिक रचनाकारों/कलाकारों और प्रसिद्ध कलाकारों और रचनाकारों के व्यक्तित्व चित्रण में विरोधाभास /पार्थक्य का यह प्रमुख कारण तो यही समझ में आता है।

प्रश्न यह भी है कि क्या कलाकार और सामान्य मनोदशाओं का व्यक्तित्व होता है? क्या उसका रहन-सहन, उसकी आदतें, आचार-विचार सामान्य जीवन दशाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं? एक लेखक, एक कलाकार जिस ढंग से आंतरिक जगत में विस्थापन करता है, उससे उसके असामान्य समझ लेने की संभावना ही प्रबल होती; किंतु क्या वाकई ऐसा है? क्या सामान्य व्यक्तित्व होकर कोई रचनाकार बन सकता है? रचना कर सकता है? क्या कला सामान्यता की उपज होती है? हमारा जीवन इतना जटिल होता चला गया है कि हम जटिल संवेदना को ही जीवन का आधारभूत तत्व समझने लगे हैं; इसीलिए कलाकार को हम जटिल, असामान्य समझने लगते हैं। हम यह नहीं समझ पाते कि कलाकार को जटिल तंत्र की समझ तो होती है, किंतु वह सामान्य होकर भी जटिल तंत्र की अभिव्यक्ति कर सकता। समझ की जटिलता अभिव्यक्ति में भी जटिल ही होती है, किंतु कलाकार स्वयं सामान्य मनोदशाओं का व्यक्तित्व होता है।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

शहंशाह इडिपस (सोफोक्लीज़)
एक ग्रीक त्रासदी
05.05.2020

(1)

सोफोक्लीज यूनान के प्रसिद्ध लेखक एवं दार्शनिक हैं। सोफोक्लीज का समय 497-494 ईसा पूर्व से लेकर 400 ईसा पूर्व तक माना जाता है। सोफोक्लीज ने 23 नाटक लिखे थे। अभी 23 नाटकों में से 7 नाटक उपलब्ध हैं-फिलोक्टटीज, एन्टीगोने, इडिपस टिरेन्स, इडिपस एट कोनोनस, एजैक्स, इलेक्ट्रा और ट्राचीनिमाई।

•••

'इडिपस' सोफोक्लीज की 429 ईसा पूर्व में लिखित एक ग्रीक ट्रेजडी है। यूरिपिडीज, सोफोक्लीज तथा अन्य ग्रीक ट्रेजडी लेखकों की कृतियों से गुज़रते हुए यह एहसास होना सहज़ ही है कि इतनी समृद्ध त्रासदी रचना परंपरा के होते हुए यदि पश्चिम में (ग्रीक में) ''त्रासदी सिद्धांत'' का निरूपण हुआ तो कोई आश्चर्य का विषय नहीं। यह स्वाभाविक था कि ग्रीक साहित्य परंपरा में ही त्रासदी का 'साहित्य-सिद्धांत' निरूपित होता। स्मरण रहे कि भारतीय साहित्य परम्परा के मूल में भी 'करुणा' रही है। क्या 'करुणा' और 'त्रासदी' के मध्य किसी प्रकार की साम्यता-असाम्यता का निर्धारण किया जा सकता है? 'करुणा रस' के मूल में भी त्रासद जीवन स्थितियाँ होती हैं, किन्तु उनका लक्ष्य केवल 'त्रासद जीवन स्थिति' का निरूपण करना नहीं होता; अपितु उन त्रासद जीवन स्थिति के प्रति एक कारुणिक जीवन दशा का निर्माण करना भी होता है। इस प्रकार ''कारुणिक जीवन दशा'', ''त्रासदी पूर्ण जीवन दशा'' से ऊपर उठकर एक 'दार्शनिक स्थिति' प्राप्त कर लेता है। 'रामायण' एवं 'महाभारत' के अंत को क्रमशः 'करुणा' एवं 'निर्वेद' के रूप में देखा गया है। 'रामायण' में सीता के भूमि में चले जाने की स्थिति राम के लिए व्यक्तिगत स्तर पर 'त्रासदी' है, किन्तु सम्पूर्ण कथा-योजना में राम के कर्तव्य निर्वाह (लव-कुश एवं राज्य की देखभाल, संचालन) के भविष्यकालिक संकेत लिए हुए

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भी हैं। इस प्रकार कारुणिक दृश्य, दुःखपूर्ण जीवन स्थिति को भी दार्शनिक रूप में ढाल देता है। यहाँ करुणा 'हृदय का विस्तार' कर देता है और 'भोक्ता' तथा 'पाठक' अपने भीतर संकुचित 'बद्ध' धारणाओं से व्यापक चेतना का अनुभव महसूस करता है।

•••

'शहंशाह इडिपस' मूल रूप से "जीवन की विडंबना पूर्ण स्थिति का संकेत करने वाली त्रासदी" है; किन्तु इस त्रासदी में विडम्बना मनुष्य और देवता के द्वंद्व को भी अपने भीतर समेट लेती है। नाटक के अंत में कोरस द्वारा कही गई पंक्ति-"याद रखो! इन्सान को, कभी अपना अन्जाम नहीं भूलना चाहिए, और कोई भी शख़्श; तब तक खुशकिस्मत नहीं कहा जा सकता, जब तक, वो अपनी ख़ुशियों को क़ब्र तक साथ न ले जाए।" इस तथ्य को पुष्ट करती है कि मानवीय जीवन नियति (देव) द्वारा संचालित है और अपने आप में निरुपाय भी...। सम्पूर्ण त्रासदी में जिस प्रकार 'देवता के फ़ैसले का इंतज़ार' पात्र करते हैं, उससे यह बात और पुष्ट ही होती है। जैसा कि हम जानते हैं कि यह त्रासदी ईसा पूर्व 429 में रचित है। उस समय तक मनुष्य दैव-विधान द्वारा अपनी चेतना को संचालित करे, तो क्या आश्चर्य!

(2)

कहानी का सार यह है कि-ग्रीस के थीब्स के महाराज की मृत्यु के पश्चात थीब्स का राजकाज संभालने वाले क्रिओन ने स्फिंग्स महामारी का सफ़ाया करने वाले इडिपस को थीब्स का राज्य और अपनी विधवा बहन देकर पुरस्कृत किया। उसके पूर्व इडिपस अज्ञानतावश अपने पिता का वध लुटेरा समझकर कर चुका है। इडिपस परिस्थिवश और अज्ञानता में अपनी मां एपिकास्टे (जोकास्टा) से शादी कर लेता है। माँ को जब इडिपस की वास्तविकता पता चलती है, तब वह आत्महत्या कर लेती है। इडिपस अपनी आंखें फोड़ लेता है और अज्ञातवास को चला जाता है। तत्पश्चात क्रियान थीब्स का राज्याधिकार ग्रहण करता है। उसके पूर्व की घटना इस नाटक के केंद्र में नहीं है। यूनान में फैली मौखिक कहानियों के एक अंश को आधार बनाकर सोफोक्लीज ने यह नाटक लिखा है।

•••

'शहंशाह इडिपस' नाटक इडिपस के राजा बनने के पश्चात की घटनाओं से प्रारंभ होता है। कथानक प्रारंभ होता है-ग्रीब्स शहर से। ग्रीब्स शहर महामारी की चपेट में है। देववाणी का प्रत्यादेश है कि डेल्फी लायस (राजा) के अदण्डित हत्यारे को दंड देने पर महामारी रुकेगी। बीच-बीच में कोरस और नेत्रहीन भविष्यवक्ता

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

टायरेसिथस का कथन है-''भविष्य का वह पूर्व-ज्ञान कितना करुण होता है जो जानने वाले के लिए अशुभ हो।'' भी चलते रहते हैं। इडिपस जब अपने पिता के हत्यारे को खोजते हुए भविष्यद्रष्टा के पास पहुँचता है, तब उसका जवाब-''तुम जिस क़ातिल को खोज़ रहे हो, वह तुम ख़ुद हो।'' टायरेथियस, इडियस के लिए भयावह विनाश की भविष्यवाणी करता है।

•••

इडिपस का अपना जीवन विचित्र घुमावों और पेचीन्दगी लिए हुए है। शाह पोलिब्स की मृत्यु के पश्चात इडिपस उसका उत्तराधिकारी बनाया जाता है। इडिपस पोलिब्स का पालित पुत्र है। नवजात इडिपस को लायस के एक गड़ेरिये ने शाह पोलिब्स को सौंप दिया था। इडिपस को श्राप है कि वह अपने पिता की हत्या करेगा और अपनी मां से विवाह करेगा। श्राप से बचने के लिए वह राज्य से भाग जाता है, किन्तु अपनी नियति से नहीं भाग पाता। जिस मां की कोख़ से वह जन्मा है, उसी कोख़ से बच्चे पैदा करता है। इन्हीं घुमावों-मोड़ों को नाटक में पकड़ा गया है।

•••

नाटककार का संकेत है कि इडिपस को उसके 'ज्ञान-गर्व' ने मिटा दिया। 'मनुष्य समस्या और निदान स्वयं ही है। पाप बहिर्गत समस्या नहीं, यह तो एक आंतरिक रहस्य है और यह उसके अपने घर से ही शुरू होता है।।'' इस दृष्टि से इडिपस मनुष्य के भौतिक ज्ञान के प्रतीक रूप में आता है। टायरेसियस दैवी ज्ञान या नियत/नियति ज्ञान के प्रतीक रूप में आया है। जीवन में 'भौतिक ज्ञान' और 'नियत ज्ञान' में संघर्ष होता है। यह त्रासदी नैतिकता और विडंबनाओं के ताने-बाने से बुनी गई है। फील पांवों वाले उडियास जीवन के शोध पथ का परिचायक है। नाटक के अंत में सोफोक्लीज की टिप्पणी है-''दे ते फ़ेबुल ''अर्थात'' यह तुम्हारी अपनी ही कथा है।''

ग्रीक ट्रेजडी में 'कोरस' का महत्वपूर्ण स्थान होता है। भारतीय नाटकों में जिस प्रकार 'सूत्रधार' और 'नट-नटी' का प्रयोग उद्बोधन और नाटकीय मोड़ों की सूचना देते हैं, उसी प्रकार पश्चिम में 'कोरस' भी करते हैं। ग्रीक त्रासदियों में कोरस नियति की विडम्बनाओं के संकेतक रूप में भी आते हैं। सोफोक्लीज ने कोरस का उपयोग जनचेतस रूप में भी किया है। इडिपस की गर्वोक्ति-''सल्तनतें दौलत और इन्सानों के जोर पर जीती जाती हैं'' के समानांतर कोरस का कथन-''ऐ शहंशाह! जिंदा इन्सानों का शहंशाह बन, वीरानों का नहीं'', अपने आप में एक प्रतिरोध रचती हैं।

नाटक के अंत में पात्रों के माध्यम से कुछ महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ कराई गई हैं। क्रियान का कथन देखें-''एक बेगुनाह इन्सान को मुज़रिम समझना और एक बुरे

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

इन्सान को अच्छा समझना, बज़ान-ए-खुद एक संगीन जुर्म है। एक वफ़ादार दोस्त को दुतकारना, अपनी ज़िंदगी को दुत्कारने के बराबर है।''....इडिपस का कथन देखें-''आवारा खूयालात ज़्यादा कारगर नहीं होते।''.....कोरस-''चंद बेमानी अल्फ़ाज़ के लिए, एक दोस्त को छोड़ देना अच्छी बात नहीं।''....क्रि यान-''बिलावजह गुस्सा और मजबूर होकर रहम करने वाला इन्सान, मुश्किलात में ही पड़ता है''.... कोरस-''गरूर ज़ालिम इंसान का हथियार-ए-ख़ास होता है। लेकिन ये गरूर आसमान जैसी बुलन्दियों से ज़्यादा ही तबाही की गहराइयों में आकर गिरता है।'' ....''कोरस-''वक्त के धारे वक्त-वेवक्त सबको उछालते हैं।''....कोरस-''याद रखो! इन्सान को, कभी अपना अंज़ाम नहीं भूलना चाहिए, और कोई भी शखूश; तब तक खुशकिस्मत नहीं कहा जा सकता, जब तक, वो अपनी खुशियों को कब्र तक साथ न ले जाए।'' इसी प्रकार ढेरों उक्तियाँ नैतिक और विडम्बनापूर्ण जीवन पर गहनता पूर्वक टिप्पणी करती हैं।

(3)

'शहंशाह इडिपस' नाटक जीवन की नियति और पेंचीदगी का आख्यान है। यूनान के ट्रैजिक नाटकों में यह ट्रैजिक नाटक अपनी विडम्बनापूर्ण स्थिति के कारण विशिष्ट स्थान रखता है। पश्चिम की ट्रेजडी में परिस्थितियों और नियति के दासत्व का विधान किया गया है। इस प्रकार का चित्रण अर्थात 'नियति के दासत्व' का विधान भारतीय कृतियों में नहीं मिलता। भारतीय महाकाव्यों में 'नियति और परिस्थितियों के भोक्ता' के रूप में पात्रों का विधान किया गया है। भोग में दासत्व नहीं, बाध्यता होती है। राम, युधिष्ठिर का वनगमन करुणा में ढल जाता है। ''करुणा वैयक्तिक नहीं, सामूहिक होती है।'' पश्चिम में त्रासदी वैयक्तिक स्तर पर घटित होती है। ''करुणा व्यक्तिगत होकर भी अपने चरित्र में सामूहिक'' होती है।

पश्चिम में ''नैतिकता और विडम्बना'' का द्वंद्व रच गया है। 'शहंशाह इडिपस' नाटक में ''नैतिकता और विडम्बना का ही द्वंद्व'' रचा गया है। डी एच लारेंस का 'संस एंड लवर्स' हो या शेक्सपियर के ट्रैजिक नाटकों में ''नैतिकता और विडम्बना का द्वंद्व'' ही क्रियाशील है। इस प्रकार सोफोक्लीज प्रारंभिक प्रस्तावक के रूप में हमारे सामने आते हैं। भारत में यह द्वंद्व ''नैतिकता और अनैतिकता'' के बीच रचा गया है। विडम्बना में अनैतिकता के लिए परिस्थितियों का बहाना कारक हो जाया करता है, किन्तु अनैतिकता का भोक्ता पात्र-चरित्र ही होते हैं; और वहीं उसके लिए जिम्मेदार होते हैं। 'द्रौपदी का चीरहरण' विडंबनात्मक कृत्य नहीं है, अनैतिक कृत्य है।

अतियथार्थवादी आंदोलन जब उग्र हुआ तो विडम्बना का स्थान मनोवृत्ति-अवचेतन आदि तत्वों ने ले लिया है। विडम्बना का दोषारोपण परिस्थिति पर किया जा

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सकता है, किन्तु 'वृत्ति का दोषारोपण' विडंबनात्मक खाँचे में नहीं डाला जा सकता।

•••

हृद्दस्त्रद्वश्रहृह्य हृद्धद्द द्यद्वठुद्द फ़िल्म 1967 में फिलिप साविले के निर्देशन में रिलीज़ हुई थी। फिल्म काफ़ी प्रभावी बनी है। नाटक और फिल्म की तुलना करें तो फिल्म ज़्यादा प्रभावी दिखती है। ट्रैजिक जीवन को पढ़ कर नहीं, देखकर ज़्यादा समझा जाता है। यह सुखद संयोग है कि ट्रैजिक कृतियों की विधा पश्चिम में प्रमुख रूप से नाटक रहे हैं। एक और बात समझने ही यह है कि पश्चिम की हर क्लासिक कृति 'अपूर्ण' या 'अधूरी' होती है। भारतीय परंपरा में हर कृति को 'पूर्ण' रूप में प्रस्तुत करने पर बल है, किन्तु ऐसा पश्चिम में नहीं है। 'इलियड', 'ओडिसी' महाकाव्य को ही देखें, वे कितने 'अपूर्ण' हैं। शेक्सपियर के दुखान्त नाटक कितने 'अपूर्ण' हैं। पश्चिमी परम्परा में एक बड़ी जनश्रुति (या इतिहास?) को आधार बना कर अलग-अलग कोणों से ढेरों रचनाएँ लिखी गईं। ये रचनाएँ अलग-अलग पक्ष को उभारती हैं। पश्चिम में अपूर्ण जीवन का सौंदर्यशास्त्र रचा गया है। एक ही कथा पर वहाँ ढेरों कोणों से बात कहने की कोशिश की गई है। ढेर सारे कथानक-उपकथानक, लोक कथाएँ, फ़िल्में एक ही थीं पर बनी हैं...और अपने आप में सभी पूर्ण हैं...और अपूर्ण भी...। विरोधाभास-सा दिखने वाला यह तथ्य इस बात का संकेत करता है कि मनुष्य अपूर्णता में पूर्णता तलाश कर रहा है। ट्रेजडी की यह खाशियत होती है कि वह जीवन के एक पक्ष को ही उठा सकती है। ट्रेजडी का अंश सम्पूर्ण जीवन नहीं बन सकता, ट्रेजडी का सिरा एक ख़ास अंश पर सघन होता है, जैसे कमरे को एक जगह ले जाकर रख देना होता है। इस प्रश्न को भी समझा जाना चाहिए कि भारत में कथानक और पात्रों का सहअस्तित्व साथ-साथ चलता है। इतिहास विचित्र ढंग से यहाँ मिथक में रूपांतरित हो जाता है। पश्चिमी लेखन परंपरा में 'मिथ को इतिहास' बनाने की चिंता है। भारतीय लेखन परंपरा की चिंता 'इतिहास को मिथ' बनाने की है...। इतिहास अपने आप में नैतिक-अनैतिक स्थूलताओं से मुक्त होता है। आप चाहें तो इसे नैतिक खाँचे में फिट कर दें, यह आपकी समस्या है। ''इतिहास, कर्ता और कर्म के बीच क्रिया की विडंबना'' है। पश्चिम की लेखन परम्परा में इस विडम्बना को पकड़ा गया। भारत में इतिहास, ''क्रिया और कर्म के बीच कर्ता की सचेतन उपस्थिति'' है। इस मार्ग और प्रक्रिया को समझ लेने पर बहुत से प्रश्न उत्तरित हो उठते हैं। वैसे इतिहास सीधे-सीधे उत्तर नहीं देता, बस उत्तर-संकेत करता है।

•••

सभ्यता के प्रसार-क्रम में विडम्बनाएँ मनुष्य केंद्रित होने लगी हैं। आज 'आर्टिफिशियल इंटेलीजेंश' यानी 'कृत्रिम बुद्धि' तक की मनुष्य की यात्रा में

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

परिस्थितियों की बनावट से ज़्यादा मनुष्य की बुद्धि द्वारा निर्मित परिस्थितियों द्वारा व्यक्ति ज़्यादा पीड़ित है। आज का मनुष्य अपने व्यक्तित्व द्वारा विघटन की स्थितियाँ निर्मित कर चुका है। विज्ञान और तकनीकी प्रगति ने मनुष्य को बौद्धिक रूप से इतना सक्षम बना दिया है कि अब वह अपने को परिस्थितियों और नियति का दास नहीं समझता। अब वह अपने को परिस्थितियों का नियंता समझता है। भौतिक और वैज्ञानिक प्रगति ने आज के मनुष्य को तकनीकी सक्षमता तो प्रदान कर दी है, किन्तु मानसिक रूप से दुर्बल और अक्षम भी बना दिया है। आज के जीवन की विडंबनात्मक स्थितियाँ नियति द्वारा संचालित नहीं है, अपितु वह मनुष्य के व्यक्तित्व-विघटन के कारण है। इस दृष्टि से आलोच्य नाटक को पढ़ा जा सकता है।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कहानी और शिक्षा

25.04.2021

(परिपार्श्व : कहानी साहित्य की 'मूल विधा' है। हालांकि कुछ लोग कविता को 'प्राथमिक विधा' मानने के पक्षधर हैं। व्यापक रूप में देखें तो मानव सभ्यता एक बड़ी कहानी ही तो है। 'इतिहास के पाठ' कहानी के ही तो रूप हैं। जहाँ मानवीय अनुभूतियाँ 'स्मृतिबद्ध' होती है, वहाँ कहानी और इतिहास का प्रवेश हो जाता है। कविता में भी एक कहानी बनती है। या दूसरी साहित्यिक विधा में भी इसका निक्षेप हो उठता है। रामायण, महाभारत एक कहानी ही तो है। व्यापक रूप से एक धर्म कहानी, सभ्यता कहानी। मनुष्य सभ्यता का निर्माण भी तभी सम्भव हो पाता है। मनुष्य सभ्यता-संस्कृति के मूल में कहानी की स्मृतिजीविता है। कविता में संवेदना की तात्कालिक प्रतिक्रिया होती है। जहाँ कविता में साम्वेदनिक साहचार्यता आएगी, वहाँ कहानी भी आ जायेगी।

'पंचतंत्र' की रचना राजा के बिगड़े राजकुमारों को शिक्षित करने के निमित्त हुई थी। शिक्षा के मनोविज्ञान का यह पहला उदाहरण है। जातीय पाठ में नीति, धर्म, शिक्षित करने का भाव मुख्य हुआ करता है। इस ढंग से देखें तो कहानी ने शिक्षा, धर्म को सूक्ष्म करते हुए संवेदना, अनुभव का मार्ग पकड़ा। यह कहानी की अपनी यात्रा है। विधा के भीतर से शिक्षा को ग्रहण करते-कराते हुए कहानी की यात्रा अभी भी जारी है। सभ्यता जब तक रहेगी, कहानी बनती रहेगी।)

(1)

कहानी अनुभव आधारित साहित्यिक विधा है। कविता संवेदना आधारित विधा है। संवेदना का इतिहास नहीं होता, संवेदना का तत्व होता है; किन्तु अनुभव का इतिहास होता है। कविता में इतिहास सीख देने के लिए नहीं, संवेदित करने के लिए आता है। इस ढंग से कहानी 'अनुभव-लालित्य' की विधा है। प्रश्न है कि 'अनुभव' और 'सीखने' में क्या तात्विक संबंध है? सीखना हमेशा अनुभव आधारित

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

नहीं होता, किन्तु केंद्रित वह अनुभव पर ही होता है। 'सीखना' अतीत का 'अनुप्रेरण' भी है और 'वर्तमान की क्रिया' भी...किन्तु उसमें प्रभावी भूमिका 'अनुभव' की ही होती है, क्योंकि वह प्राप्त निष्कर्षों के आलोक में नवीन तथ्य की स्थापना से जुड़ा हुआ है। 'सीखना' आवृत्तिमूलक क्रिया है। एक ही कार्य को करने में व्यक्ति अनेक बार एक ही कर्म को अलग-अलग कोणों से करता है। इन कोणों के बीच की प्रक्रियाओं में व्यक्ति कर्म और अनुभव से युक्त होता चलता है। इस प्रकार अनुभव और सीखना परस्पर एकानुमापी पद्धति या क्रिया है। इस पद्धति में कभी अनुभव सीखने का आधार बनता है तो कई बार सीखने की प्रक्रिया अपना अनुभव निर्मित करती है।

कहानी 'अनुभव-प्रकाश-लालित्य-सातत्य' है। अनुभव प्रकाश का लालित्यपूर्ण सातत्य। 'अनुभव प्रकाश' का तात्पर्य 'सीखने' और 'सिखाने' की प्रक्रिया के अतिरिक्त और क्या समझा जाए? इसलिए कहानी का अर्थ मनोरंजन के साथ ही 'सीख' भी है। यह सीख कहानी का आंतरिक सत्य है। कहानी और शिक्षा अनुभव और पद्धति के सृजनात्मक युग्म हैं। सीख तदभव है, शिक्षा तत्सम है। 'सीख', 'अनुभव' है और शिक्षा 'अनुभव-पद्धति।' शिक्षा सीख की पद्धति है। शिक्षा में केवल कथ्य नहीं है, पद्धति भी है। इसलिए शिक्षा में सीख (कथ्य) भी है और शिक्षण-पद्धति भी।

(2)

जीवन अपने आप में एक शिक्षा है, जिसमें अनुभव भी है और प्रक्रिया भी। प्रत्येक कहानी में शिक्षा की प्रत्यक्ष स्थिति हो, यह आवश्यक नहीं। आज की कहानी तो अनुभव पर बल देती है। यह अनुभव आदर्शात्मक भी हो सकता है और यथार्थवादी भी...सकारात्मक भी होता है और नकारात्मक भी।आधुनिक कहानी एक ख़ास क्षण में अनुभव को पकड़ने पर बल देती है। यह अनुभव ही कहानी में प्रसरित हो जाता है, रूपांतरित हो जाता है। हर अनुभव कहानी की प्रस्तावना है। जिस अनुभव में 'सातत्य होने की संभावना' हो या वह अनुभव जो संभावनापूर्ण होता है, वह एक कहानी का भाग है। कहानी 'संभावनापूर्ण अतीत' ही तो है...। इस ढ़ंग से देखें तो कहानी नैतिक विधा है, किन्तु इसमें नीति वचन हों; यह जरूरी नहीं। मनोरंजन कहानी का 'अव्याज-मनोहर' है। बाद के दिनों में कहानी और शिक्षा अलग-अलग ढंग से विवेचित किये जाने लगे। कहानी मनोरंजन और लालित्य की ओर मुड़ गई और शिक्षा सिद्धांत और पद्धति की ओर।

कहानी में शिक्षा की एक पद्धति नहीं रही है।जीवन के अनेक दांव-पेंचों के बीच 'अनुभव के एक क्षण' को पकड़ना कहानी की एक शैली रही है। किंतु यह

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
अनुभव-क्षण एक जैसे नहीं होते। कहानी में आये हुए अनुभव कभी संबंधों पर आधारित होते हैं तो कभी सत्ता-समाज के अंतरसंबंधों पर। इसी प्रकार अन्य अनुभव-क्षण भी हो सकते हैं। मनुष्य मन की वृत्तियों के आधार पर व कथ्य-वैविध्य के आधार पर कहानी और उसके अनुभव-क्षण निर्मित होते हैं। जैसे औत्सुक्य-कौतूहल (परियों की कहानियाँ), भय-वीरत्व वृत्ति (राक्षस-देवताओं की कहानियाँ), भक्ति वृत्ति (ईश्वर, सृष्टि की कहानियाँ), निर्वेद वृत्ति (उपनिषदों की कहानियां, ज्ञानात्मक कहानियाँ), रति वृत्ति (प्रेम और उसके सामाजिक संबंधों की कहानियाँ), घृणा-जुगुप्सा (प्रतिरोध की मनोवृत्ति), करुणा की मनोवृत्ति (जीवन की मार्मिकता, हृदय का द्रवित रूप)...आदि। कहने का अर्थ यह है कि मनुष्य मन की वृत्ति भी अनुभव-वितान के मार्ग खोजती हैं।

(3)

हर कहानी एक 'अनुभव-प्रकाश' है। हर कहानी की जान होती है-मार्मिक क्षण की पकड़। वैसे तो साहित्य का कार्य 'नैतिक शिक्षा' देना नहीं होता। 'शिक्षा' कहानी का 'अनुवर्ती-प्रभाव' या 'अनुवर्ती-प्रकाश' है। जैसे एक बुजुर्ग व्यक्ति अपने अनुभव को अपनी अगली पीढ़ी को सुना देता है। उसके इस अनुभव में कोई 'नैतिक सीख' देने का आग्रह नहीं होता। अनुभव के सकारात्मक तथा नकारात्मक होने का तथा उसके वर्गीकरण करने का विवेक हर पीढ़ी के पास अपना होता है। इस प्रक्रिया में दो चीज़ें हमारे सामने आती हैं। एक बुज़ुर्ग का अनुभव, कहानीकार का अनुभव और दूसरा युवा पीढ़ी, पाठक का अनुभव। इस ग्रहण-आस्वाद की प्रक्रिया के बीच 'अनुभव-सम्प्रेषण' की प्रक्रिया क्रियाशील होती है। लेखकीय अनुभव के माध्यम से पाठक के अनुभव-समृद्ध होने की क्रिया 'कहानी और शिक्षा' की पीठिका है।

कहानी में लेखकीय अनुभव का पाठकीय रूपांतरण होता है। रूपांतरण की इस प्रक्रिया को समझना उचित होगा। एक कहानीकार की यात्रा वैचारिक-बिम्बों से प्रारंभ होती है। कहानीकार के अपने जीवन अनुभव के साथ जब वैचारिक-बिम्ब जुड़ते हैं, तब वह किसी पात्र और कथ्य में ढलता है। यहाँ हमने 'वैचारिक बिम्ब' शब्द का प्रयोग किया है। कहानी के बिम्ब कविता के बिम्ब से भिन्न होते हैं। कविता के बिम्ब 'संवेदनागत' होते हैं। संवेदना और चित्र मिलकर कविता के बिम्ब निर्मित करते हैं। और विचार और अनुभव मिलकर कहानी के बिम्ब निर्मित करते हैं। किसी के मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि जब बिम्ब निर्मित होने की प्रक्रिया चल रही है, तब अनुभव की निष्पत्ति कैसे संभव होती है? यहाँ इस अनुभव और विचार की प्रक्रिया को गहरे रूप में समझे जाने की आवश्यकता है। एक कहानीकार

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अपने आस-पास के परिवेश को 'स्मृति' में सुरक्षित करता चलता है। उसकी स्मृति का मूल्यवान हिस्सा उसकी अनुभूति (अनुभव) का हिस्सा हो जाते हैं। इस अनुभूति में उसका व्यक्तित्व घुलता-मिलता रहता है। अनुभूति और व्यक्तित्व के संगुम्फन के माध्यम से लेखक की चेतना (कहानीकार की चेतना) निरंतर सक्रिय, गतिशील होते चलती है। कहानीकार की अनुभूति चेतना में जब किसी घटना, दृश्य, भंगिमा, चरित्र की कौंध शामिल हो जाती है, तब वह 'वैचारिक बिम्ब' की प्रक्रिया से गुजरता है। 'वैचारिक-बिम्ब' में 'विचार' केंद्रीय स्वर है और उसके अनुवर्ती रूप के दृश्य में ढलने की प्रक्रिया बिम्ब रूपी होती है। हर कहानी में एक 'वैचारिक कौंध' होती है। इस 'कौंध' के बिना कहानी निर्मित नहीं होती। 'वैचारिक कौंध का बिम्बधर्मी रूपांतरण' कहानी के रूप में हमारे सामने आता है। 'वैचारिक बिम्ब' में दृश्य की ओर झुकाव कम होता है, घटना की ओर अधिक। दृश्य और घटना के प्रति एक कहानीकार जब वैचारिक प्रतिक्रिया करता है...अपने पूर्व 'अनुभव' को जोड़ता है और उसे 'वैचारिक-बिम्ब' में रूपांतरित करता है, तब 'कहानी की संरचना' निर्मित होती है। हर बिम्ब दूसरे बिम्ब से भिन्न होता है। ''घटना की आवृत्ति हो सकती है, बिम्ब की नहीं।'' बिम्ब का टकटकापन जिस प्रकार एक कविता को मौलिक बनाता है, उसी प्रकार एक कहानी को भी। कहने का अर्थ यह है कि कहानी में 'विचार और अनुभव' में 'वैचारिक बिम्ब' को निर्मित करने की क्षमता होती है। 'वैचारिक बिम्ब' घटनामूलक होता है। इसमें 'क्रिया' की अनिवार्यता होती है। कविता के बिम्ब में जिस प्रकार प्रभाव की केंद्रीय भूमिका होती है, उसी प्रकार कहानी के बिम्ब में 'क्रिया' की। क्रियामूलक वैचारिक बिम्ब ही दृश्य में ढलकर पात्र के रूप में प्रसरित हो जाते हैं। यहाँ पात्र एक वैचारिक बिम्ब के अनुवर्ती प्रकाश या अनुवर्ती क्रियारूप बन जाते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि कहानी में 'वैचारिक बिम्ब' का फैलाव ही क्रिया और पात्र के रूप में ढल जाते हैं तो फिर परिवेश, सामाजिक यथार्थ, चरित्रों का द्वंद्व और कहानी की व्यंजना (शिक्षा) किस प्रकार निर्धारित होती है...किस प्रकार सम्पन्न होती है? कहानी में आए परिवेश, चरित्र और यथार्थ के द्वंद्व कहानीकार के वैचारिक बिम्ब के विस्तार होते हैं। कहानी की व्यंजना (शिक्षा) तो सीधे-सीधे परिवेश-चरित्र-यथार्थ का निचोड़ होती है। इस प्रकार कहानीकार का प्रस्थान और कहानी की व्यंजना दो अलग-अलग निष्पत्तियाँ नहीं रह जातीं, अपितु एक ही प्रस्थान की निष्पत्ति बन जाती हैं। इस पूरी प्रक्रिया में कहानीकार की यात्रा और प्राप्ति के मूल में दो शिक्षाएँ कार्य किया करती हैं। एक, शिक्षा स्वयं कहानीकार के लिए है और दूसरी शिक्षा पाठक के लिए। कहानी रचना निर्माण की प्रक्रिया में कहानीकार पहले स्वयं शिक्षित होता है और फिर वह उस अनुभव को पाठक के सामने रख देता है। कहानीकार का उद्देश्य अपने पाठकों को

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

शिक्षित करना नहीं होता, अपितु अपने अनुभवों से परिचित कराना होता है। कहानी में शिक्षा की प्रक्रिया ''एक सृजनात्मक अनुभव-मार्ग'' से गुज़रने की प्रक्रिया होती है।

कहानी के संदर्भ में मनोरंजन, शिक्षा और उपदेश देने की वृत्ति का ज़िक्र अक्सर होता है। प्राचीन कहानियाँ श्रम-परिहार के बीच एक-दूसरे को सुनाई जाती थीं। इन कहानियों में मनोरंजन का आग्रह होता था। ध्यान रहे जब एक लेखक अपने पाठकों से संवाद करता है तो वह अपनी रचना-प्रक्रिया और अपने अनुभव भी साझा करना चाहता है, किन्तु जब वह 'अन्य पुरुष' की शैली में कहानी वर्णन करता है तो उसमें एक मनोरंजन या नैतिक उपदेश की प्रवृत्ति आ जाती है। एक कहानी में नैतिकता बहुत भीतरी रूप में छिपी रहती है, क्योंकि इस नैतिकता को लेखक-कहानीकार अनुभव-रूप में ढालता है...और उसे कहानी रूप में परिणत करता है। बहुत-सी कहानियों में आपको अनैतिक, अराजक, निष्क्रिय, हिंसक या प्रतिगामी चरित्र (नायक या मुख्य पात्र) मिल जाएंगे। प्रश्न है कि क्या कहानीकार इनके माध्यम से अनैतिक जीवन क्रियाओं का प्रचार-प्रसार करना चाहता है? एक कहानीकार के लिए किसी जीवन-दशा के बीच किसी मार्मिक क्षण को पकड़ना मुख्य होता है। एक लेखक का अनुभव-प्रकाश कथ्य में, मार्मिक घटना-प्रसंगों में विन्यस्त हो जाता है। इसीलिए लेखक का दृष्टिकोण एक चीज़ हुआ, एक तथ्य हुआ और किसी कहानी को दूसरे व्यक्ति द्वारा वर्णन करना दूसरी बात हुई। कहानीकार का बल 'घटना के मार्मिक अनुभव' पर होता है और वर्णनकर्त्ता का बल कहानी से प्राप्त 'सीख' पर। इस पूरी प्रक्रिया में कहानी जैसे-जैसे सम्प्रेषण की प्रक्रिया से गुजरती चलती है, वैसे-वैसे उसमें 'अर्थ की व्यापकता' बढ़ती जाती है। अर्थ यह है कि उपदेश, नैतिक आख्यान या मनोरंजन 'कहानी का दूसरा चरण' है।

मन के किसी ख़ास क्षण या मार्मिक अनुभूति को पकड़ना कहानी का गुण-धर्म है। यहाँ कुछ उदाहरण लें। प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानी 'ईदगाह' का संदर्भ लें। कहानी में हिंदु-मुस्लिम की साझा संस्कृति है, मेले-बाजार का दृश्य है, बाल-मनोविज्ञान है, पारिवारिक संबंध हैं; किन्तु ये सब अवांतर प्रसंग हैं, विवरण हैं। कहानी का व्यंग्य हामिद के इस वाक्य 'अब तवे पर दादी का हाथ नहीं जलेगा' में सिमटा हुआ है, संकेंद्रित है। कहानी एक 'मार्मिक क्षण का लालित्य' है। मनोरंजनपूर्ण कहानी हो या कौतूहल केंद्रित कहानी, उसमें कोई-न-कोई नाटकीय मोड़ अवश्य होगा। 'पुरस्कार' कहानी में नायिका मधुलिका द्वारा अपने प्रेमी के लिए 'तो मुझे भी प्राणदण्ड मिले' का उद्घोष प्रेम के लिए त्याग, बलिदान, औदात्य, कर्तव्यनिष्ठा को घनीभूत कर देते हैं। कहानीकार का मूल उद्देश्य इतिहास को प्रस्तुत करना नहीं है, वरन प्रेम के औदात्य के संदर्भ में विवरण को उपस्थित करना है। कहानी की भंगिमा

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मनोभावों को रेचित, परिष्कृत, उदात्त और मार्मिक करने में निहित होती है। इस प्रक्रिया में ही कहानी की सीख और कहानीकार की गरिमा निहित होती है। इस ढंग से पूर्व की कहानियों और आधुनिक कहानियों में भेद किया जा सकता है। (किया गया है।)पूर्व की कहानी में शिक्षा पर प्रत्यक्षत: बल दिया जाता था...और आज की कहानी में 'अनुभव' पर। अब यहाँ 'अनुभव' केंद्र में है। मानवीय सभ्यता-क्रम में 'अनुभव' और 'स्मृति' का सातत्य-क्रम बढ़ता चलता है। अनुभव में 'क्रिया' और स्मृति में 'शिक्षा' संयोजित होते चलती है। कहानी एक साथ अनुभव और स्मृति को साधने वाली साहित्यिक विधा है। अनुभव में यदि स्मृति न हो तो वह तात्कालिक प्रतिक्रिया मात्र होगी। स्मृति से जुड़कर ही अनुभव सार्थक हो पाता है। व्यापक स्तर पर कहानी की प्रक्रिया 'स्मृतिमूलक प्रक्रिया' है। कहानीकार अपनी स्मृति को पुनर्रचित करता है। स्मृति की पुनर्रचना में मार्मिक क्षण उभर आते हैं, घनीभूत हो जाते हैं। साहित्य का कार्य भी संवेदना के आलोक में शिक्षा की प्रक्रिया को शामिल करना होता है। कहने का अर्थ यह है कि साहित्य में, कहानी में शिक्षा की प्रक्रिया अनुभव और स्मृति जैसे बिंदुओं पर प्रमुखत: आश्रित रहती है।

कहानी में 'स्मृति' का आना संश्लिष्ट क्रिया है। साहित्य के संदर्भ में स्मृति सांस्कृतिक प्रश्न है। ''स्मृति सातत्य प्रक्रिया'' के बीच एक संस्कृति अपने पाठ रचती है। व्यक्ति के स्तर पर स्मृति भावमूलक सघनता है और समाज-सभ्यता के स्तर पर स्मृति शिक्षा-संस्कृति का पाठ। आज की सभ्यता 'स्मृति-ध्वंश' के बीच रचित हो रही है।फलत: साहित्य के चरित्र भी हमारे सामने टूटे-बिखरे रूप में सामने आ रहे हैं। लगता है कि वे अपनी जड़ों से कटे हुए हैं। स्मृति से कटना जड़ों से कटना ही तो है। कहानी को, स्मृति को अनुभव में और अनुभव को स्मृति में रूपांतरित किया जाता है। हमारी प्रत्येक स्मृति रचनात्मक बने, यह आवश्यक नहीं। कहानी इस स्मृति को रचनात्मक बनाने का उद्यम रचती है। इसी प्रकार, कई बार हमारे अनुभवों में वैयक्तिकता होती है। साहित्य के लिए वैयक्तिक आवेगों-संवेगों का महत्व तब तक नहीं है, जब तक कि वे अपनी वैयक्तिकता का सार्वभौमिकरण न कर लें। स्मृति के अनुभव बनने की प्रक्रिया के बीच रचनात्मकता का प्रश्न उपस्थित होता है और अनुभव से स्मृति बनने की प्रक्रिया के बीच वृत्तियों के विस्तार का प्रश्न। वृत्तियों का विस्तार और अनुभूति की रचनात्मकता, इन दो प्रश्नों की केन्द्रीयता में कहानी अनुभव और स्मृति का वितान रचती है, जिसमें मनुष्य समाज को शिक्षित करने की साहित्यिक ज़िम्मेदारी का बोध भी होता है।

कहानी और शिक्षा-विमर्श

शिक्षा 'पद्धति' है और कहानी 'मर्म-अनुभूति-पद्धति।' शिक्षा प्रक्रिया के

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
बीच किसी कथ्य को रूपांतरित करने का मनोभाव प्रमुख रूप से क्रियाशील होता है। इसमें 'पद्धति' केंद्रीय है। बिना पद्धति के कथ्य संप्रेषणीय कैसे होगा ? साहित्यिक विधाएँ भी एक रचना-पद्धति ही तो हैं...मनोभावों का अनुशासन। किन्तु शिक्षा पद्धति मनोभावों का अनुशासन नहीं है, अपितु 'कथ्य का अनुशासन' है। शिक्षा में बल 'कहने' पर है और कहानी में बल 'अनुभव-साझा' करने पर। शिक्षा का मूल कथ्य-रूपांतरण है और साहित्य का मूल संवेदना-व्यक्तित्व रूपांतरण।

हिंदी कहानी और पश्चिमी कहानी परंपरा में 'शिक्षा-विमर्श' एक ख़ास ढंग से देखा गया है। कहानी में आकर शिक्षा विमर्श के प्रश्न सपाट नहीं रह जाते, अपितु वह 'सीखने' और 'अनुभव के द्वंद्वात्मक प्रश्न' बन जाते हैं। शिक्षाशास्त्र में शिक्षा को कोरे मनोवैज्ञानिक ढंग से देखा गया है या सीखने की क्रमिक पद्धति के रूप में। ज़ाहिर है साहित्य में यह प्रश्न इतना सपाट नहीं है। साहित्य में शिक्षा की प्रक्रिया 'कथ्य के आत्मसातीकरण' की प्रक्रिया नहीं रह जाती, अपितु 'कथ्य के बनने' की प्रक्रिया और उसके मनोविज्ञान तक चली जाती है। कहानी में शिक्षा के विमर्श शिक्षाशास्त्र के यांत्रिक ग्रहण पद्धति पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं। प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानी 'बड़े भाईसाहब' का संदर्भ लें। सामान्य ढंग से देखें तो यह कहानी बड़े भाई को अपने शिक्षा के प्रति अनुशासन, कर्तव्य-बोध, प्रतिबद्धता और जीवन की समझ अध्ययन के लिए मुफ़ीद होने चाहिए थे, किन्तु कहानी में ऐसा नहीं होता। छोटा भाई परीक्षा में पास हो जाता है और बड़े भाईसाहब परीक्षा में फेल हो जाते हैं। यह क्या कहानीकार की असंगति है? एक शिक्षाशास्त्री की दृष्टि से यदि इस प्रश्न को हल करना चाहें तो आप सफ़ल नहीं हो सकते। एक मनोवैज्ञानिक या एक शिक्षाशास्त्री शिक्षा के प्रश्न को पद्धति के रूप में ग्रहण करेगा। हमने 'पंचतंत्र' का संदर्भ दिया था। पंचतंत्र के लेखक द्वारा राजकुमारों को शिक्षित करने के लिए कहानियों की रचना करना ऊपर से तो सरल कर्म (सपाट कर्म) दिखता है, किन्तु राजकुमारों को शिक्षित करने के लिए राजा ने एक संत या ऋषि-मुनि का आश्रय क्यों नहीं लिया ? यह महत्वपूर्ण प्रश्न है। सीखना कई बार अवचेतन में भी चलता है...कई बार सूक्ष्म रूप में भी चलता है। एक बच्चे के लिए सीखना केवल पाठ्यपुस्तक या पाठ्यक्रम को रटना नहीं होता, बल्कि उसके बाहर जीवन के राग-रंगों को कल्पनात्मक ढंग से महसूस करने की योग्यता धारण करने में भी निहित होता है। बच्चे के भीतर कल्पना-शक्ति का विकास करना भी शिक्षा की प्रक्रिया ही है। एक कहानीकार इस तथ्य को समझता है। एक बड़ा साहित्यशास्त्री भी इस तथ्य को ' द्धति में कहानी शिक्षण' तक ही जा सकता है। कहानी में शिक्षा का प्रश्न स्वयं में एक पद्धति है, उसे किसी मौलिक पद्धति के रूप में ढालने की आवश्यकता नहीं है। एक कहानीकार के लिए शिक्षा 'संवेदना और कल्पना' का संयुक्त प्रत्यय है। बड़े भाईसाहब के बड़े

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भाई शिक्षा को पाठ्यपुस्तक के रूप में देख रहे थे। यह एक साहित्यकार का 'साहित्यिक-मन' है। इस कहानी में कहानीकार ने नीति कथन या हृदय-परिवर्तन नहीं कराया है और न मार्मिक क्षणों को पकड़ा है, बल्कि शिक्षा को लेकर एक 'विमर्श' खड़ा किया है। दिनेश कर्नाटक की कहानी ' मैकाले का जिन्न' माध्यमिक शिक्षा पर लिखी गई बेहतरीन कहानी है। यह कहानी वैचारिक उपनिवेश के प्रश्न को तीखे ढंग से उठाती है। मुक्तिबोध की 'क्लॉड इथरली' कहानी 'वैचारिक उपनिवेशवाद' के ऊपर लिखी गई हिंदी की श्रेष्ठ कहानी है। दिनेश कर्नाटक की ही दूसरी कहानी 'पीताम्बर मास्साब' एक शिक्षक-प्रतिभा के नष्ट होते जाने की मार्मिक कथा है। शिक्षक तंत्र की जड़ता कैसे एक प्रतिभाशाली शिक्षक की हत्या कर देती है, कहानी का एक विमर्श यह भी है। देवेंद्र की लंबी कहानी 'नालंदा पर गिद्ध' का स्मरण उचित होगा। इस कहानी में कहानीकार कोई संदेश नहीं देता, कोई प्रतिरोध नहीं करता, किन्तु उत्तर-आधुनिक दौर में शिक्षा तंत्र कैसे खोखले होते जा रहे हैं, इसका जीता-जागता रेखांकन कहानीकार अवश्य देता है। कहानी में 'निष्कर्ष' नहीं है, केवल 'विमर्श' है। उदय प्रकाश की कहानी 'आचार्य की रजाई' में उच्च शिक्षा के परिदृश्य में प्रतिभाशाली की कुंठा और जड़ से कटे तंत्र का विमर्श है। इन पंक्तियों के लेखक की विविध कहानियाँ-शोध की मौखिकी, नियुक्तिआय नमः, विश्वविद्यालय : एक उपसंहार, गिरोह का ब्रह्मभोज, विश्वविद्यालय का प्रोजेक्ट, मठाधीश...शिक्षा तंत्र के विविध विमर्श ही हैं। इसी क्रम में शिक्षा और विमर्श के प्रश्न को लेकर हिंदी और पश्चिम में कई अच्छी कहानियाँ लिखी गई हैं। इन कहानियों को देखने पर एक बात स्पष्ट रूप से उभर कर आती है कि शिक्षा पर लिखी गई प्रायः कहानियाँ विमर्शात्मक हैं। कम कहानियाँ हैं, जो संवेदनात्मक आधार पर बुनी गई हैं। प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि ऐसा क्यों हुआ? शिक्षा के प्रश्न कहानी में आकर विमर्श बन जाते हैं, प्रश्न चिह्न बन जाते हैं।

क्या कहानी शिक्षा-विमर्श को किसी निष्कर्ष तक पहुँचा पाती हैं? विमर्श में निष्कर्ष कम ही होते हैं। विमर्श में प्रश्न होते हैं। कहानी में शिक्षा के प्रश्न भी स्पष्ट रूप से हमें कोई निष्कर्ष नहीं देते, हाँ वे संकेत अवश्य करते हैं। हिंदी की कई कहानियाँ भाषा के विमर्श को उठाती हैं, कुछ सत्ता के प्रश्न को उठाती हैं। कुछ सीखने के मनोविज्ञान को; किन्तु ये सब द्वितीयक हैं। कहानी का मूल 'अनुभव-संवेदन-रूपांतरण' है...अनुभव को संवेदना में ढालने का उद्यम। शिक्षा अनुभव के प्रश्न जहाँ तक मार्मिक बने हैं, वहाँ कहानी सफल रही है; किन्तु जहाँ वह केवल विमर्श बनकर रह जाती है, तब वह अपनी व्यंजना से भटक जाती है।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

ट्रैजिक पात्र और स्थितियाँ

07.06.2021

(1)

साहित्य में घटित ट्रेजडी बहुमूल्य होती है, किन्तु जीवन में घटित ट्रैजिक स्थितियाँ विडम्बनापूर्ण होती हैं। इस द्वैत के कारणों पर थोड़ी चर्चा ज़रूरी है। ऐसा क्यों होता है जिन बहुमूल्य भंगिमाओं को हम जीवन में स्वीकार नहीं कर पाते, उन्हें साहित्य में देखकर चमत्कृत होते हैं, विस्मृत होते हैं? क्या इसका कारण यह माना जाए कि जीवन की गति और उस गति के बीच घटित भाव-संयोजनों को हम पकड़ पाने में अक्षम होते हैं...विडम्बना के शिकार होते हैं, और साहित्य में आकर वही विडम्बनापूर्ण स्थितियाँ हमारे लिए महत्वपूर्ण हो जाती हैं; क्योंकि तब हम जीवन के ब्यौरों को सिलसिलेवार ढंग से, क्रमिक रूप से देख पाते है। जीवन की विडंबना को तब हम पात्र और वर्गीय स्थितियों के सापेक्ष देखते हैं...और इस क्रम में जीवन को सतही ढंग से देखने के आमफ़हम आदत से किनारा कर लेते हैं। उन्नत साहित्य सार्वभौमिक तो होता है, किन्तु सतही एकदम नहीं होता। घीसू-माधव जैसे ट्रैजिक पात्र, मंटो के पात्र या विद्रोही पात्र...हमें आकर्षित करने लगते हैं। जड़ व्यक्ति ट्रैजिक स्थितियों के शिकार नहीं होते। ट्रैजिक पात्र जटिल परिस्थिति और मनःस्थिति के द्वंद्व से निर्मित होते हैं। प्रश्न फ़िर वही कि ट्रैजिक पात्रों के प्रति हमारे मन में गहरे आकर्षण क्यों होता है? जितना आकर्षण हम होरी के प्रति महसूस करते हैं, उतना मेहता के प्रति नहीं करते। कारण? मनोविज्ञान कहेगा कि यह मनुष्य की नकार वृत्ति या भय की आशंका के कारण होता है; किन्तु इसका मूल कारण यह होता है कि ट्रैजिक पात्र ''संवेदनात्मक आग्रहशीलता तीव्र'' करते हैं, क्योंकि उनका जीवन ज़्यादा सार्थक होता है। जीवन को टुकड़ों में जीने के वे अभ्यस्त होते हैं, हाँ उन पात्रों के पास जीवन का एक बृहत चित्र अवश्य होता है, जिसे वे खंड चित्रों को जोड़ नहीं पाते या परिस्थितियाँ उन्हें जोड़ने नहीं देतीं। जीवन के प्रति आग्रहमूलक छटपटाहट इन्हें प्रामाणिक जीवन देता है। समझने वाली बात यह है कि ''सुखी, संतुष्ट व्यक्ति या चरित्र जीवन के आवृत्तिमूलक विचारों के प्रशंसक होते हैं और ट्रैजिक पात्र निष्पत्तिमूलक

CC-OAgamnigam Digital Preservation
Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

विचारों के प्रशंसक।'' आवृत्तिमूलक विचारों में स्थूलता होती है और निस्पत्तिमूलक विचारों में सूक्ष्मता।

व्यक्ति के स्तर पर ट्रेजडी कारुणिक होता होती है और सामाजिक स्तर पर? मंटो कहता है कि एक व्यक्ति की मौत ट्रैजिक है और ढेर सारे लोगों का मरना तमाशा..। यह मंटो का अपना तंज़ है। सामाजिक ट्रेजडी भयमूलक होती है। ज़्यादातर हम व्यक्ति ट्रेजडी के स्तर पर सोचते हैं। सामाजिक ट्रेजडी के स्तर पर व्यक्ति बहुत देर तक नहीं टिक पाता। बहुत देर तक नहीं सोच पाता। व्यक्ति के स्तर पर ही सामाजिक ट्रेजडी, आपदाओं को ही व्यक्ति देख पाता है, संवेदित हो पाता है। मनुष्य की संवेदनाएँ वैयक्तिक रूप में ही संयोजित हो पाती हैं, नहीं तो वह आंकड़ा बन जाती हैं। क्रांतिकारी विचारक सामूहिक ट्रेजडी और सामूहिक क्रांति को देखते हैं। सामान्य व्यक्ति एवं आध्यात्मिक व्यक्ति वैयक्तिक मुक्ति के माध्यम से सामूहिक मुक्ति को देख पाता है।

करुणा व्यक्ति पर टिकती है। करुणा का आलंबन व्यक्ति है। 'स्त्री विलाप पर्व' में महाभारतकार ने करुणा को सामूहिक रूप में दिखाया है, किन्तु विचित्र प्रकार से उसमें वैयक्तिक और सामूहिक पीड़ा का द्वंद्व रचित हो गया है। 'स्त्री विलाप पर्व' में करुणा सामूहिक है, किन्तु इस सामूहिकता में भी, एक-एक व्यक्ति को देखकर गांधारी का विलाप करना, रुदन करना विचित्र ढंग से सामूहिक दु:ख और वैयक्तिक दु:ख का वितान रचता है।

ट्रेजडी को अरस्तू कैथार्सिस कहता है, किन्तु जिस प्रकार नाटक की ट्रेजडी कैथार्सिस है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष जीवन में ट्रेजडी कैथार्सिस नहीं रह जाती। अज्ञेय ने लिखा है कि 'दु:ख मांजता है' किन्तु यह संयोजन प्राय: लोग नहीं कर पाते। अधिकांश लोगों के लिए दु:ख भार बन जाता है। हालांकि सुख की अपेक्षा दु:ख में ज़्यादा घनत्व है और व्यापकता भी।

कामू के प्रसिद्ध उपन्यास 'प्लेग' में महामारी का त्रासद चित्र है। एक डॉक्टर की संघर्षगाथा....; किन्तु इस संघर्ष में भी व्यक्ति चित्र ज़्यादा प्रभावी हो उठते हैं। यह मनुष्य की मस्तिष्क की संरचना है कि वह व्यक्ति के स्तर पर जाकर ही अपनी मनोवृत्तियों का संयोजन कर पाता है। विचार के लिए जिस प्रकार समाज का संयोजन बुद्धि करती है, उसी प्रकार संवेदना के लिए नहीं। ''संवेदना का संयोजन वैयक्तिक स्तर पर होता है और विचार का संयोजन सामाजिक स्तर पर।'' व्यक्ति के स्तर पर विचार की स्थिति पार्श्व में चली जाती है। व्यक्ति प्राय: वैयक्तिक रुचि-अरुचि, मत-पूर्वग्रह के स्तर पर संवेदनाओं का संयोजन करता है। वैसे तो, विचार में भी रुचि-अरुचि कार्य किया करती है, किन्तु विचार का संबंध सामूहिक मनोवृत्ति से ज़्यादा जुड़ा हुआ है। कोई विचार के स्तर पर मार्क्सवादी है या

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
भाववादी, उसके इस चयन में सामाजिक गति, सिद्धांत, मान्यताएँ ही प्रमुख रूप से होती हैं।

ट्रैजिक स्थितियाँ और ट्रेजिक पात्रों की व्यथा और व्यंजना में फ़र्क होता है। ट्रैजिक स्थितियाँ व्यवस्था द्वारा निर्मित होती हैं और यही स्थितियाँ ट्रैजिक पात्रों को जन्म दे देती हैं। व्यवस्था में मिसफिट व्यक्ति कई बार ट्रैजिक विडंबनाओं के शिकार हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि ट्रैजिक पात्रों का मूल उत्स ट्रैजिक स्थितियाँ हैं; किन्तु कई बार ट्रैजिक पात्र नए ढंग की अधिरचनाओं की उपज होते हैं।

ट्रेजिक पात्र अत्यधिक संवेदनशील होते हैं...इतने कि सामाजिक यथार्थ की गहरी समझ के बावजूद वे उस यथार्थ का अतिक्रमण नहीं कर पाते, व उसके नीचे पिस जाते हैं–''पिस गया वह दो पाटों के बीच/ ऐसी ट्रेजडी है नीच'' (मुक्तिबोध)।... ''चलती चाकी देखकर दिया कबीरा रोय/दो पाटन के बीच में साबुत बचा न कोय'' (कबीर)। आश्चर्य यह है कि कबीर और मुक्तिबोध ट्रेजडी का अनिवार्य संबंध व्यवस्थाजनित यथार्थ को मानते हैं। यह क्या अपने आप में विडम्बना नहीं कि सामान्य व्यक्ति से ज़्यादा मनोविज्ञान और सामाजिक यथार्थ को समझने वाला व्यक्ति स्वयं उसके नीचे दबा रहता है...पिस जाता है?(जब गर्दन किसी के पांव के नीचे दबी हो तो उस पांव को सहलाने में ही कुशल है–होरी, गोदान)। व्यक्ति मनोविज्ञान की गहरी समझ रखने वाला होरी अपने आस-पास के जटिल तंत्र को देख नहीं पाता, क्योंकि वह तंत्र बहुत सूक्ष्म है, व्यवस्थाजनित हैं। वे दिखती नहीं हैं और जब दिखती हैं तब व्यक्ति की हत्या हो जाती है। (स्मरण करें रामविलास शर्मा का कथन)। कहने का अर्थ यह है कि ट्रैजिक पात्र परिस्थितियों के प्रति आवेगशील प्रतिक्रिया करते हैं...और हम जानते हैं कि आवेग में एक भावमयता होती है।जीवन जगत के प्रति भावात्मक प्रतिक्रिया ही धीरे-धीरे उन्हें अपने गिरफ्त में ले लेती है और वह एक विडंबनात्मक पात्र में रूपांतरित हो जाते हैं।

(2)
क्रांतिकारी की ट्रैजिक स्थिति

ट्रैजिक पात्र भी एक जैसे नहीं होते। हमें भले ही लगता हो कि हर ट्रैजिक पात्र का अंत या निष्पत्ति एक जैसी होती है, किन्तु उनका जीवन बहुत मौलिक और विविधता पूर्ण होता है। जो बात टॉलस्टॉय ने अन्ना कैरेनिना के शुरुआती अंश में लिखी थीं कि हर व्यक्ति का सुख एक जैसा होता है, किन्तु हर व्यक्ति का दुःख अलग होता है; को ट्रैजिक पात्रों के संदर्भ में भी समझा जा सकता है। जीवन की जटिल परिस्थितियों के शिकार पात्र अपने व्यक्तित्व के स्तर पर अंतर्मुखी हो जाते हैं या व्यक्तित्व के स्तर पर विघटित हो जाते हैं। व्यवस्था या सत्ता के अंतर्विरोधों के शिकार पात्र अपने भीतर मनोवृत्तियों का आवेग संयोजित करते हैं, जिनमें व्यवस्था-

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सत्ता के प्रति एक सामूहिक चेतना कार्य किया करती है। मंटो के टोबा टेक सिंह में व्यवस्था के प्रति कोई सक्रिय प्रतिरोध नहीं निर्मित किया गया, किन्तु उसका पूरा व्यक्तित्व ही एक प्रतिरोधी चेतना से निर्मित किया गया। चेख़व के वार्ड नंबर 6 के डॉक्टर को भी इसी वर्ग में रखा जा सकता है। इन सब से अलग हार्वड फ़ास्ट का स्पार्टकस पात्र है। स्पार्टकस क्रांतिधर्मी चेतना का संयोजक व्यक्तित्व है। मंटो के ढेर सारे पात्र, प्रेमचंद के पात्र, ज़िंदगी और जोंक का रजुआ या इस तरह के ढेर सारे पात्र परिस्थिति और व्यक्तित्व के असंतुलन को व्यक्त करते हैं।

वैयक्तिक स्तर पर ट्रेजडी का स्वरूप सामूहिक ट्रेजडी से भिन्न होता है। राष्ट्रीय आंदोलन या एक अंधकार काल खंड के ऊपर लिखी ट्रेजडियाँ अपनी व्यंजना में व्यक्ति अंतर्विरोध को अपना आधार नहीं बनातीं, अपितु व्यक्ति संभावना को अपना आधार बनाती हैं। ऐसा कई बार होता है कि ऐसे संभावनाशील पात्र को भी लेखक ट्रैजिक रूप में चित्रित करता है, किन्तु तब भी लेखक उस की अपनी संभावना को उन्नत रूप में प्रस्तुत करता है।

क्रांतिकारी पात्रों की ट्रैजिक स्थितियाँ दूसरे पात्रों से भिन्न होती हैं। क्रांतिकारी पात्र सत्ता और व्यवस्था के खिलाफ प्रतिरोध की चेतना तो निर्मित करते हैं, किन्तु यह चेतना कर्म से जुड़ पाने में कई बार सफ़ल नहीं हो पाती...। एक क्रांतिकारी की ट्रैजिक स्थिति उसकी निष्पत्ति से तो जुड़ी हुई है ही, साथ ही उसकी उन प्रक्रियाओं में भी उसे खोजा जा सकता है; जो उन जटिलताओं को व्यक्त करती हैं। एक क्रांतिकारी के बनने की प्रक्रिया बहुत जटिल और संश्लिष्ट होती है। एक क्रांतिकारी सामूहिक चेतना को अपने व्यक्तित्व में तो ढालता ही है, साथ ही वह उन परिस्थितियों को बदलने वाली क्रियाओं-चेतनाओं-मन:स्थिति से भी टकराता है।

(3)
महान रचनाएँ और ट्रैजिक स्थिति

संसार की बड़ी रचनाएँ जीवन की विडंबना को पकड़ने में चित्रित हुई हैं। जो रचनाकार जीवन की विडंबना को जितने बड़े रूप में पकड़ पाता है, वह उतना ही बड़ा रचनाकार बन पाता है। संसार के प्राय: महाकाव्य विडम्बनापूर्ण जीवन की गाथाएँ हैं। रामायण, महाभारत, इलियड, डिवाइन कॉमेडी, पृथ्वीराज रासो, पद्मावत, वार एंड पीस....जैसी बड़ी रचनाएँ जीवन की विडंबना का महावितान रचित हुआ है। रामायण, महाभारत का अंत भले ही शांत रस में हुआ हो, किन्तु सम्पूर्ण रचना में एक ट्रैजिक अंतर्धारा व्याप्त है। जिन रचनाओं का सुखद अंत हुआ है, उनमें भी ट्रैजिक स्थितियों का संयोजन ही प्रमुखत: हुआ है। ओ हेनरी की प्रसिद्ध कहानी 'आखिरी पत्ता' का स्मरण करें। कहानी में कहानीकार ने एक कलाकार की जीवन विडम्बना को चित्रित किया है। कहानी अपनी निष्पत्ति में सुखद कही जा सकती है,

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

किन्तु पूरी कहानी पर ट्रैजिक स्थितियों की छाया है। संसार की प्राय: कहानियों में ट्रैजिक परिस्थितियों को पकड़ने की अकुलाहट है। कारण है कि महानता कोई सपाट अवधारणा नहीं है। कोई प्रश्न कर सकता है कि संत तो सरल होता है, फिर भी वह महान होता है। ऐसा क्यों होता है? हम जिसे सरल समझते हैं, उसके अंदर तक नहीं जाना चाहते। एक संत सरल होने से पहले जटिल जीवन की समस्त अवधारणाओं, परिस्थितियों से गुजरता है। बिना परिस्थितियों के संज्ञान के संत भी सरल नहीं होता। एक सरलता अपने भीतर रहस्यमयता भी धारण किये होती है, क्योंकि वह जटिल जीवन से होकर ही गुजरती है। यही बात ट्रैजिक जीवन, परिस्थितियों और श्रेष्ठ रचनाओं के अंतरसंबंधों के संबंध में भी कही जा सकती है।

प्रश्न है कि महान या बड़ी रचनाएँ ट्रैजिक जीवन को किन कोणों पर पकड़ती हैं? जीवन की त्रासदी साहित्य में आकर वही नहीं रह जाती, क्योंकि तब वह स्थूल नहीं रह जाती। साहित्य में अभिव्यक्त ट्रैजिक स्थिति घटना और परिपार्श्व के द्वंद्व को एक साथ साधती है। घटना या मुख्यांश अपने साथ उसकी नियामक स्थितियों को भी साथ लिए चलती है। वैसे तो यह प्रक्रिया सुखात्मक जीवन स्थितियों को दर्शित करने वाली रचनाओं में भी चलती है, किन्तु इन रचनाओं में मुख्यांश का ही महत्व होता है या परिपार्श्व या मुख्यांश का द्वंद्व नहीं होता; किन्तु ट्रैजिक कथ्य की रचनाओं की बुनावट में यह द्वंद्व बहुत सघनता से व्यक्त होता है। ब्रेस्ट के नाटक 'लाइफ़ ऑफ गेलिलियो' या भीष्म साहनी के नाटक 'हानूश' में एक कलाकार की पीड़ा दर्शित हुई है। इस पीड़ा के मूल में जीवन परिस्थितियों के प्रति इन वैज्ञानिकों-कलाकारों का द्वंद्व ही प्रमुखत: चित्रित हुआ है।

महान रचनाएँ क्या ट्रैजिक जीवन बोध की अभिव्यक्ति या आख्यान हैं? बहुत सी ऐसी रचनाएँ भी होती हैं, जो ट्रैजिक जीवन के आख्यान नहीं लगते किन्तु वे महत्वपूर्ण होती हैं। सूर का सूरसागर, कालिदास का रघुवंशम, प्रसाद की कामयानी...या इस प्रकार की ढेरों रचनाएँ हैं, जो सीधे-सीधे ट्रैजिक आख्यान रचते प्रतीत नहीं होते, फिर क्या उनकी विशेषता जीवन-बोध से युक्त होकर सार्थक होती है? प्रश्न महत्वपूर्ण है कि जीवन बोध में क्या केवल सुखकर स्थितियाँ है? सूर जीवन उत्सव के कवि हैं, कबीर क्रांतिकारी कवि हैं... महान कवियों में ट्रैजिक स्थिति इसी बोध के बीच लिपटी हुई है। जीवन का विराट बिम्ब ट्रैजिक स्थितियों के बिना पूर्ण होता ही नहीं है।

❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कविता और चरित्र

15.07.2021

(1)

आज एक प्रिय मित्र ने कविता में चरित्र का प्रश्न उठाया। मित्र ने कविता में चरित्र के प्रश्न को द्वितीयक कहा। वह कविता में चरित्र से ज्यादा विचार, बिम्ब या मनोदशा के रेखांकन को महत्वपूर्ण मानने पर बल दे रहा था। मित्र की बातों से मुझे कविता और चरित्र के प्रश्न पर विचार करने का सूत्र मिला।

प्रश्न है कि क्या कविता में चरित्र 'द्वितीयक' होते हैं? लंबी कविताओं में कवियों ने चरित्रों को खड़ा करने की भी कोशिश की है। अज्ञेय के 'असाध्य वीणा' में प्रियंवद का चरित्र हो या निराला की 'सरोज स्मृति' में सरोज, और स्वयं लेखक का चरित्र, राम की शक्ति पूजा में राम का चरित्र या इसी प्रकार के कुछ अन्य प्रयास...। लंबी कविताओं को छोड़ भी दिया जाए तो कुछ दूसरी छोटी कविताओं में भी चरित्र को खड़ा करने का प्रयास किया गया। किंतु क्या यह प्रयास पर्याप्त रूप से समृद्ध रहे हैं? जिस प्रकार गद्य में चरित्र की समृद्धता होती है? यदि यहाँ गद्य और कविता के बीच तुलना न भी करें तो भी यह प्रश्न उठाना स्वाभाविक ही है कि कविता में चरित्र की भूमिका क्या उसी रूप में है, जैसे कि गद्य में होती है? क्या कविता में 'मनोदशा के रेखांकन' या उनको पकड़ने के क्रम के क्रम में चरित्र आते हैं? क्या कविता के लिए चरित्र वाकई द्वितीयक है? इन प्रश्नों की व्यापक समझ आवश्यक हैं।

कविता में चरित्र का आना उस रूप में नहीं होता, जिस रूप में गद्य में होता है। कारण यह कि कविता में विवरण के लिए उतना अवकाश नहीं। चरित्र की निर्मित के लिए विवरण आवश्यक होते हैं। कविता में इसीलिए चरित्र की बजाय पात्र और ब्यक्तित्व आते हैं। चरित्र के निर्माण के लिए जिस प्रकार प्रक्रियागत अनिवार्यता होती है, वैसी पात्र या व्यक्तित्व के लिए नहीं। पात्र को, चारित्रिक विशेषताओं को ग्रहण करने के लिए स्पेस नहीं मिलता तो व्यक्तित्व उन प्रक्रियाओं

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

से अछूता रहता है। इसलिए कविता प्रक्रियागत विधा के साथ ही पार्श्व और प्रभाव की विधा है। प्राचीन समय में जब महाकाव्य लिखे जाते थे तब उसमें प्रक्रिया के लिए स्पेस था, किंतु आज की कविता प्रक्रियागत चीजों को उतना स्पेस नहीं देती; खासतौर से चरित्र निर्माण के संदर्भ में। इसका अर्थ यह न समझा जाए कि कविता में घटनाओं की प्रक्रिया नहीं होती। कविता इस ढंग से सूक्ष्म विधा है। वह चरित्र के संदर्भ में या घटना घटने की प्रक्रिया के संदर्भ में संकेत कर आगे निकल जाना चाहती है। इसलिए हम कविता को 'प्रभावात्मक अनुशासन' कहते हैं। कविता में चरित्र का आना एक विशेष संदर्भ से, विशेष गुण से होता है। कविता घटना के बीच एक चरित्र को ले आती है। यहाँ क्रिया प्रधान है, संज्ञा नहीं। 'देखा मैंने उसे इलाहाबाद के पथ पर/ वह तोड़ती पत्थर' कविता में निराला हों या युवा कवि आत्म रंजन 'कंकड़ छाँटती' कविता में। यहाँ स्त्री का आना एक ठहराव को तोड़ने के क्रम में है। एक आक्रोश, विद्रोह, क्रिया का मिला-जुला रूप। कंकड़ छाँटती स्त्री कविता का दृश्य विधान देखें-भागते हांफते समय के बीचो-बीच/ समय का एक विलक्षण बंद है यह/ अति व्यस्त दिन की/ सारी भागमभाग को धता बताती/ दाल छाँटने बैठी है वह/ काम से लौटने में विलंब के बावजूद/ तमाम व्यवस्थाओं को/ खूंटी पर टांग दिया है उसने/ पूरे इत्मीनान से टांगे पसार/ बैठ हुई है गृहस्थ मुद्रा में/ हाथ मुंह, कपड़े धुलने की/ हड़बड़ी नहीं है इस समय/ एक आदिम ठहराव है/ तन्मयता है पूरी तल्लीनता/ पूरे मन से डूबी हुई वह स्त्री/ एक-एक दाने को सौंप रही/ उंगलियों का स्निग्ध स्पर्श/ अन्न को निषकंकर होने की/ गरिमा भरी अनुभूति/ स्वाद के तमाम रहस्य/ और भी बहुत कुछ...''

यहाँ स्त्री के चरित्र को उभारना कवि का उद्देश्य नहीं है। यहाँ एक विचार, बिम्ब के बहाने कवि एक विशेष अर्थ की खोज कर लेना चाहता है। गद्य में जो कार्य गद्यकार चरित्र-निर्माण कर करते हैं, कविता में उसी कार्य को करने के लिए कवि एक जीवन-स्थिति के दृश्य/बिम्ब रचता है। यहाँ चरित्र का आना 'क्रिया के निमित्त' आना है...'चरित्र के निमित्त क्रिया का आना' नहीं है।

कविता किसी एक चरित्र की बात प्राय: नहीं उठाती। (हाँ यदि विशेष रूप से किसी व्यक्तित्व पर केंद्रित करके कोई कविता ना लिखी गई हो तो अलग बात है)। वह चरित्रों के यूनिकनेस की बजाय चरित्रों का सार्वभौमीकरण करती है। कविता बहुत से, एक से लगने वाले चरित्रों का मूर्तिकरण करती है। वह वैयक्तिक पात्रों का निर्माण नहीं करती, अपितु सार्वभौमिक पात्रों का निर्माण करने वाला अनुशासन बनती है। यहाँ वैयक्तिक और सार्वभौमिक पात्रों की अधिसंरचना को समझना आवश्यक है। कथावस्तु हमेशा वैयक्तिक पात्र को केंद्रित करके आगे बढ़ती है; कुछ

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मायनों में लंबी कविता भी। राम की शक्ति पूजा के लिए राम, सरोज स्मृति के लिए सरोज और लेखक, असाध्य वीणा के लिए प्रियंवद...आदि। कथा की संरचना में चरित्र इसीलिए महत्वपूर्ण बनते हैं कि वहाँ दृश्य-घटनाओं की बहुलता होती है। दृश्य-घटना के लिए चरित्र अनिवार्य घटक होते हैं, किंतु जहाँ केवल प्रभाव, क्रिया में कविता की संरचना को विकसित करना हो; वहाँ चरित्र कविता में किस प्रकार आएंगे? इसीलिए कविता वैयक्तिक चरित्रों का बहिष्कार करती है। (कविता व्यक्तित्व प्रधान तो हो सकती है, किन्तु वैयक्तिक प्रधान नहीं...)। वह एक दृश्य-मनोभाव को रचती हैं। दृश्य-मनोभाव प्रभाव के लिए वृत्तियों अन्तरवृत्तियों का सार्वभौमीकरण अनिवार्य होता है। मनोदशा वैयक्तिक भी हो सकती है, किंतु वह मुख्य रूप से सार्वभौमिक ही होती है। कम-से-कम कविता का यही इष्ट है। यानी कविता किसी विचार को...किसी मनोदशा को ही चरित्र में ढाल देती हैं। कुमार अंबुज की कविता का अंश देखें-''आखिर में कहना चाहता हूं कि यदि उसकी कविता में/ हम सब की कविता मिलाने से कुछ बेहतरी हो/ तो मिला दी जाए यदि बदतर ही हो/ तो हम सब की कविता मिटा दी जाए/ लेकिन एक कवि की अकड़ को/ उसकी ठसक को रहने दिया जाए/ कि वही तो है जिसके पास कोई अध्यादेश लाने की ताकत नहीं/ कोई वर्दी या कुर्सी नहीं और मौके-बे-मौके के लिए लाठी तक नहीं/ फिर भी एक वही तो है जो बता रहा है/ कि अकड़ना चाहिए कवियों को भी/ इसे इस तरह भी कहना चाहिए कि वह/ कविता की बची-खुची अकड़ है/ जीवन पर निर्बल की सच्ची पकड़ है।'' आलोच्य कविता-अंश में 'कवि की अकड़' एक चरित्र है। यहाँ कवि पार्श्व है। उसकी अकड़ (स्वाभिमान-औदात्य) क्रिया है। मुख्य अंश है। यहाँ कवि ने चरित्र को क्रिया में विस्थापित किया है। यह कार्य गद्य नहीं कर सकता। यह कार्य कविता करती है।

(2)

प्रश्न है कि क्या बिना चरित्र के भी कविता लिखी जा सकती है? बिना चरित्र के हम गद्य और नाटक की कल्पना नहीं कर सकते, किंतु कविता? कई बार प्राकृतिक कविताओं में सूर्य, चंद्र, तारे, नदी इत्यादि पर भी कविता लिखी जा सकती है...लिखी गई है। यानी स्वतंत्र रूप से प्रकृति को आलंबन मानकर। हालांकि यहाँ भी प्रकृति का मानवीकरण ही किया गया है, किंतु बावजूद हम कविता में चरित्रों का विस्थापन कर देते हैं। गद्य में चरित्रों का विस्थगन नहीं किया जाता। कविता कई बार चरित्र को विचार में...कई बार बिंब में...कई बार दृश्य में...कई बार क्रिया में...रूपांतरित कर देती हैं। यह भिन्न-भिन्न रूपांतरण, मनोदशा के भिन्न-भिन्न रूपों में हमारे सामने प्रकट होते हैं। निराला की कविता 'स्नेह निर्झर बह गया

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

है' का संदर्भ लें। स्नेह निर्झर बह गया है/ रेत सा ज्यों तन रह गया है' कविता की पंक्ति एक जीवन दशा, जीवन का उत्तरार्ध...अस्त...राग के झीजने, विषाद का संकेत कर रही है। यहाँ कोई चरित्र नहीं है, स्वयं जीवन-दशा ही एक चरित्र है। राजेश जोशी ने मुक्तिबोध की कविताओं पर टिप्पणी करते हुए महत्वपूर्ण टिप्पणी की है कि-उनकी कविताओं का केंद्रीय चरित्र विचार है। यह मुक्तिबोध के साहित्य के संदर्भ में महत्वपूर्ण टिप्पणी हैं। वाकई मुक्तिबोध की कविताओं में कोई केंद्रीय चरित्र नहीं है। एक बड़ा 'विचार-सत्य' ही उनकी कविताओं में बिखरा पड़ा है। इस ढंग से उनकी कविताओं, साहित्य में कथ्य का वैविध्य कम है, हाँ विषय की सघनता अवश्य है, और पर्याप्त मात्रा में है। कहने का अर्थ यह है कि कविता अमूर्त तत्वों से मूर्त की व्यंजना करती है। गद्य के लिए जिस प्रकार मूर्तता तथा विवरण प्राथमिक रूप से...अनिवार्य रूप से होने चाहिए, वैसा कविता के लिए नहीं। कविता अमूर्त/सूक्ष्म विधा है। गद्य की तरह यह मूर्खता से अमूर्तता की यात्रा नहीं करती, बल्कि अमूर्तता की व्यंजना के लिए मूर्खता/ स्थूलता का आश्रय ग्रहण करती है। चरित्र अपने मूल स्वरूप में, स्थूल तत्वों के आधार पर निर्मित होते हैं...और फिर गहन रूप से सूक्ष्म होते चले जाते हैं। कई लोगों के यह भी तर्क हो सकते हैं कि कविता में भी तो घटना, विवरण, दृश्य से होते हुए उसकी व्यंजना तक पहुँचा जाता है। यह तर्क ऊपरले स्तर पर तो उचित प्रतीत होता है। किंतु गहराई पूर्वक परीक्षण करने पर असंगत ही जान पडता है। कविता में दृश्य या चरित्र की उपस्थिति एक अमूर्त केंद्र/ बिंदु ,व्यंजना के आलोक में निर्मित होती है और फिर वह व्यंजित होकर विवरण...यानी फिर से अपने मूल में समा जाता है। इस प्रकार यहाँ घटना/ दृश्य द्वितीयक बन जाते हैं और चरित्र अपनी महत्वपूर्ण सत्ता रखते हुए भी कविता में आकर विगलित हो जाता है, विस्थगित हो जाता है।

(3)

'कविता क्रियात्मक लालित्य का बिंबपूर्ण अन्वेषण'' है। वह क्रिया में अपना अर्थ पाती है। यहाँ 'कर्त्ताभाव' इसीलिए 'अनुपस्थित' या 'क्रिया का सहचर' बन जाता है। जैसे मनुष्य का मूल स्वभाव 'कर्म' है, वैसे ही कविता का मूल स्वभाव 'क्रिया' है। ''कविता क्रियापदों की अनुक्रमणिका है।'' जिसमें ढेर सारी क्रियाएँ हमारे सामने आती हैं, किंतु वह विवरण नहीं बनती; अपितु बिंबमाला बनती हैं या विचारमाला बनती जाती हैं। वस्तुत: कविता बिंब /विचार की उत्पत्ति दृश्यों को सूक्ष्म बनाने की प्रक्रिया के तहत करती है। जब हम कविता को 'सूक्ष्म विधा' या 'अमूर्त विधा' कह देते हैं या कहें तो यह स्पष्ट रूप से समझ लें कि इसमें यथार्थ से पलायन की वृत्ति नहीं है, अपितु यथार्थ की प्रक्रिया का बहुत गहनतापूर्वक विश्लेषण

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

है। इसकी 'क्रिया' में घटना घटने की 'प्रक्रिया' भी निहित है।

कविता बिम्ब से चरित्र और चरित्र से बिम्ब में ढलने की विधा भी है। यहाँ चरित्र प्रत्यक्ष तो हमारे सामने नहीं आते। वे पहले बिम्ब की शक्ल धारण करते हैं...या प्रतीक बनते हैं...या और गहरे संवेदना में ढल जाते हैं। कविता चरित्र को संवेदना में भी ढालती है। गद्य जो कार्य बहुत से विवरण की सृष्टि कर करता है...घटनाओं के द्वंद्व रच कर करता है, कविता उसी कार्य को बहुत थोड़े शब्दों में करती है, बुनती है; इसीलिए तो कविता 'शब्दमितव्ययिता की विधा' है...और यह मितव्ययिता उसके चरित्र के अन्य रूपों में ढलने के साथ ही अन्य रूपों में भी प्रकट होता है।

(4)

मुक्तिबोध कहते हैं कि कविता 'सभ्यता-समीक्षा' है। इस वाक्य की अनेक व्यंजनाएँ हो सकती हैं। यहाँ हम कविता और चरित्र के संदर्भ में इसे समझने का प्रयास करेंगे। कविता तात्कालिक संदर्भों की विधा नहीं है। ऐसा नहीं है कि कविता में तात्कालिक संदर्भ नहीं होते या समकालीन घटनाएँ नहीं होती। हाँ कविता में तत्कालीन संदर्भ या घटनाएँ दोनों होती हैं, किंतु वह इन संदर्भों-घटनाओं को तात्कालिकता से मुक्त कर देती है। कविता तात्कालिकता को सार्वभौमिकता/सर्वकालिक समय-मूल्य में अभिव्यक्त करने वाली विधा है। उसके प्रश्न, विचार, समस्याएँ किसी-न-किसी घटना, परिवेश-परिस्थिति तक सीमित नहीं होती हैं, अपितु वह इसका अतिक्रमण कर जाती है। यहाँ अतिक्रमण कर जाने का अर्थ पलायन नहीं है, अपितु उस बद्धता को तोड़ने से है। कविता की संरचना मूलतः व्यंजनाधर्मी होती है, इसलिए भी वह चरित्र-संदर्भ को उस महावितान के संदर्भ में उपयोग करती है।

जब हम कविता को "मनुष्य की गत्यात्मक यात्रा का लालित्य" कहते हैं, तो हमारा आशय यह होता है कि वह जीवन को किसी खास बिंदु तक सीमित नहीं करती। कविता में आए संदर्भ, घटना-चरित्र धीरे-धीरे अपना स्वरूप परिवर्तित कर एक बड़ा फलक प्राप्त कर लेते हैं। यानी वे 'एक चिह्न' में बदल जाते हैं। कविता इसीलिए घटनाओं-चरित्रों को 'व्यक्तिबद्ध' नहीं करती, जैसे कि गद्य करता है; अपितु वह घटना-चरित्र का सार्वभौमिकरण करती है। सुधांशु फ़िरदौस की कविता 'कालिदास का अपूर्ण कथा गीत' के इस अंश को देखें-"बहुत दुष्कर है ढूंढ पाना/ इस खंडित महाद्वीप के मानचित्र पर कालिदास का जन्म स्थान/ क्या कोई पूछता भी है कालिदास की जाति?/...कोई नहीं जानता से कहाँ चला जाता है कालिदास/ हर कालिदास के जीवन में आता है एक उज्जैन/ जहाँ पहुँच वह रेचित है अपना

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सर्वश्रेष्ठ...।'' यहाँ हम देख सकते हैं कि कालिदास एक सर्जक के रूप में हमारे सामने आता है। उज्जैन एक सर्जना-भूमि बन जाती है। कविता में कालिदास, उज्जैन वैयक्तिक भूमियाँ छोड़कर सार्वभौमिक रूप धारण कर लेते हैं। यानी वे एक बड़े प्रतीक में रूपांतरित हो जाते हैं।

❑❑❑

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

श्रेष्ठ भारतीय साहित्य

भारतीय ज्ञानपीठ

G.M. College of Education
Raipur, Bantalab
Jammu
No. ...
Dated 7-11-2023

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

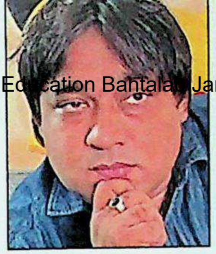

शशांक शुक्ल

जन्म : 22 सितंबर 1979 में बेलाहीं, सोनभद्र में। उच्च शिक्षा काशी हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग से।

अध्यापन अनुभव : लगभग 16 वर्षों का अध्यापन अनुभव। महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वसंत महिला महाविद्यालय, केंद्रीय हिंदी संस्थान, हैदराबाद केंद्र, हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय में अध्यापन के पश्चात उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में असिस्टेंट प्रोफ़ेसर एवं विषय समन्वयक के रूप में लगभग 9 वर्ष कार्य। तत्पश्चात दिसंबर, 2019 से जम्मू केंद्रीय विश्वविद्यालय के हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग में एसोसिएट प्रोफेसर पद पर कार्यरत।

संपादन : शोध पत्रिका परमिता का लगभग 10 वर्ष तक संपादन, उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय के न्यूज़ लेटर उड़ान का संपादन, जम्मू केंद्रीय विश्वविद्यालय की पत्रिका उत्तर वाहिनी के उप संपादक।

साहित्य सिद्धांत : सा वेदनिक साहचार्यता का सिद्धांत, रचना-अंतराल का सिद्धांत, साहित्यिक विकास का सिद्धांत नामक नए साहित्य सिद्धांत का निर्माण कार्य। स्थायी भाव और संचारी भाव पर नए ढंग से कार्य विस्तार।

पुस्तकें : रामनारायण शुक्ल : शब्द और कर्म के प्रतिबद्ध साधक (जीवनी), एक आलोचक की डायरी (डायरी), साहित्य और अश्लीलता का प्रश्न (डायरी), गिरोह का ब्रह्मभोज तथा अन्य कहानियाँ (कहानी संग्रह)।

उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय के लिए 16 पाठ्यपुस्तकों का संपादन।

संप्रति : जम्मू केंद्रीय विश्वविद्यालय के हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग में एसोसिएट प्रोफ़ेसर पद पर कार्यरत।

संपर्क : parmita.shukla@gmail.com

CC-OAgamnigam Digital Preservation Foundation

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

₹: 370.00

* 3 5 1 6 - 1 *

भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली - 110 003

संस्थापक : स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन, स्व. श्रीमती रमा जैन